तृतीय अध्याय

जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताओं का लोकपक्ष और स्त्री जीवन

तृतीय अध्याय

'लोक' का सहज आकर्षण हर मनुष्य को प्रिय होता है। उसके सामने कृत्तिम सुंदरता आकर्षक प्रतीत नहीं होती है। 'लोक' स्वभाव से ही मधुर लगता है। उसे किसी भी प्रकार के अलंकार की आवश्यकता नहीं होती। वैदिक साहित्य में 'लोक' की स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है। वे दीर्घकालीन लोकव्यापी भावों का ही प्रकटीकरण है। यह स्थिति संस्कृत, प्राकृत, पाली और अपभ्रंश साहित्य में व्याप्त देखा जा सकती है।

'लोक' साहित्य का अपना-अपना क्षेत्र होता है। फिर भी वह पड़ोसी बोली से अप्रभावित नहीं रहता। प्रभाव की यह परंपरा दूर देशों तक चली जाती है। एक लहर से दूसरी लहर तक बनती हुई आगे बढ़ती जाती है। इस प्रकार लोकप्रवाह बनता बढ़ता तथा थोड़ा-थोड़ा रूपांतरित होता जाता है परन्तु उसका मूलरूप नहीं बदलता। उसमें निर्हीत स्थानीयता का बीज ही उसे स्थानीयता का रंग देता है

'लोक साहित्य' की जड़े वैदिक साहित्य में मिलती है। ऋग्वेद में 'लोक' शब्द का प्रयोग 'स्थान' तथा 'भुवन' के अर्थ में प्राप्त होता है। भारत में 'आर्यों' के आगमन के बाद 'आर्य' और 'आर्यतर' जातियों के मध्य 'वेद' और 'वेदतर' स्थिति का आविर्भाव हुआ था। उस दशा में 'वेदतर' शब्द का प्रयोग 'लोक' के लिए होने लगा। यह 'लोक' शब्द वेद सापेक्ष अर्थ में लिया गया था। परन्तु आगे चलकर 'लोक' शब्द इस संकुचित सीमा से आगे उठ गया। बौद्ध धर्म के विकास के साथ मानव भावना, संवेदना का महत्व बढ़ने लगा और 'लोक' शब्द माननीय उत्कृष्टताओं का बोधक बनता चला गया है। 'लोक' की व्यापक सत्ता को ग्रामीण और नगर की संकुचित सीमा में नहीं रखा जा सकता।

लोकगीतों में जनमानस के राग-विराग, स्वर तथा लय के संगीतात्मक आवरण से लिपटी, भावानुभूतियों का सहज प्रवाह बहता है। जिसमें लोग जीवन के सभी रीति रिवाज, लोक परंपराएं, धार्मिक कार्य, विधि-विधान, मिथक, लोक कथाएं, आशाएं,

उम्मीदें, हर्ष-विषाद और उल्लास सभी कुछ प्रतिबिंबित होता है। किसी भी देश के लोकगीत उस देश के जनता के हृदय के उद्‌गार ही होते हैं। वे उनकी भावनाओं के सच्चे प्रतीक होते हैं। यदि किसी भी देश की संस्कृति का अध्ययन करना हो तो सर्वप्रथम उनके लोकगीतों का अध्ययन करना उचित होगा। यह लोकगीत लोक मानस की वस्तु है। अतः उनमें जनता के हृदय भाव निर्हित होते है।

भारतीय लोक साहित्य के निर्माण में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का योगदान अधिक और विशिष्ट रहा है। लोकगीतों में सदियों से झड़ते स्त्री मन के दर्द, पीड़ा, प्रेम, आशा, आकांक्षा और प्रताड़ना आदि को साफ महसूस किया जा सकता है। जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में भी नारी के कंठ से उसके अपने भाव और अभाव के उद्‌गार प्रकट होते रहे हैं। यह लोकगीत समाज के घात-प्रतिघात का सच्चा रूप व्यक्त करते हैं।

समाज की यह बड़ी विडंबना रही है कि जिस घर में एक लड़की का जन्म होता है वह उसे अपना घर नहीं कह सकती क्योंकि विवाह के बाद वह जिस घर में जाएगी वही परंपरा के अनुसार उसका अपना घर है। परन्तु वास्तविकता में ससुराल में बेगाने लोगों के बीच उस घर को भी अपना नहीं समझ पाती। आत्मीयता के अभाव में उसे मायका ही याद आता है। जहां अब वह सिर्फ मेहमान की हैसियत रखती है। इस असहनीय भाव की अभिव्यक्ति स्त्रियों द्‌वारा लोक साहित्य में अनेकों बार हो चुकी है।

पति, पत्नी का सर्वस्व है, उसके सुख-दुख का सहभागी है। पुत्र इच्छा की वेदना दोनों के लिए एक समान है, जिसमें दोनों को एक-दूसरे का दर्द समझना चाहिए। परंतु हमारे समाज में हमेशा से इसके लिए सिर्फ स्त्री ही उत्तरदायी मानी जाती है। संतानहीनता का सारा कसुर उसके ही सर लादा जा रहा है। ऐसे में अगर पति भी उसे ही दोषी मानकर उसकी अवहेलना करे, व्यंग्य कसे तो स्त्री के लिए यह स्थिति बेहद तकलीफदेह तथा असहनीय हो जाती है। पति के कटाक्षपूर्ण शब्द

स्त्री के मन में शूल की तरह चुभ जाते हैं। संतानहीन स्त्री जब सूर्य उपासना से पुत्र प्राप्त करती है तब सास-ससुर और अपने भाग्य को तो सहारती है परन्तु पति के लिए कुछ नहीं कहती। पति के संबंध में मौन रहती है। पति द्वारा किया गया अपमान उसके मन में एक प्रकार से अभिमान जगा देता है। हमारे समाज में नि:संतान स्त्री सर्वाधिक उपेक्षा की पात्र रही है। इसमें ऐसी स्त्री की अपार पीड़ा झर रही है, जो अपनी ससुराल से संतानहीनता के अपराध में निष्कासित किए जाने पर जंगल में बाघिन और नागीन की शरण में जाती है, वे भी उसे नहीं अपनाते। जन्म देने वाली माता भी उसे नहीं रखती। अपार वात्सल्यमयी सब को शरण देनेवाली धरती मां भी बंजर होने के भय से शरण नहीं देती। यह भाव को कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविता 'सोनचिरई' में संतानहीन स्त्री की पीड़ा, सामाजिक तिरस्कार और अन्याय को बखूबी शब्दों में अभिव्यक्त देती हैं- "सोनचिरई की गोद न भरी/ननंद को भतीजा/सास को कुल का दिया/पति को पुरुषत्व का पुरस्कार न मिला/ननद कहने लगी ब्रजवासीन/सास कहने लगी बांझ/और जो रात दिन समाया रहा उसमें सांसो की तरह/उसने कहा तुम्हारी स्वर्ण देह किस काम की/अच्छा हो तुम यह गृह छोड़ दो/तुम्हारी परछाई ठीक नहीं होगी हमारी कुल के लिए।"[1]

आज भी हमारे भारत देश के कई प्रांतों में स्त्री का सम्मान उसके पुत्र पैदा करने से होता है। पुत्र को जन्म देने वाली स्त्री का महत्व परिवार और समाज में बढ़ जाता है। जब की पुत्री को जन्म देने वाली जननी को परिवार में उपेक्षा तथा तिरस्कार का सामना करना पड़ता है। उसके साथ तमाम तरह के दुर्व्यवहार किए जाते हैं। पुत्र जन्म पर खाने में मेवे, फल, घी आदि दिया जाता है। ओढ़ने के लिए दुशाला और पसंगी में चंदन की लकड़ी जलाई जाती है, जब की पुत्री को जन्म देने पर कुश की घास बिछाने व ओढ़ने के लिए तथा खाने में जंगली फल और पसंगी में खुखुड़ी (सुखा भुस)। इस प्रकार के भेदभाव के वर्णन अनेक

लोकगीतों और कहानियों में मिलते हैं जैसे कि मेहरूनिशा परवेज की कहानी 'अपना घर'।

भारत देश के अलग-अलग प्रदेशों में क्षेत्रीय बोली के अनुसार लोकगीतों की अत्यंत समृद्ध, विस्तृत और मजबूत परंपरा देखी जा सकती हैं। भिन्न-भिन्न अवसरों, रोजमर्रा के क्रिया-कलापों, भिन्न-भिन्न भावों की अभिव्यक्ति के लिए, गाए जाने वाले लोकगीतों की विस्तृत तथा समृद्ध परंपरा की जड़ लोकमानस में गहरे तक धसी हुई हैं। इन्ही लोकगीतों के बहाने समाज की स्त्री मन के विविध भावोच्छवास अपनी संपूर्ण सरलता और वेदना के साथ प्रगट हुई है। स्त्री-सशक्तिकरण के तमाम तामझाम के बावजूद वह पीड़ित, पराधीन, अशिक्षित और शोषित है परन्तु संघर्षरत है। अपनी इन विपरीत परिस्थितियों से बाहर निकलने की उसकी छटपटाहट कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताओं में साफ दिखती है। यह लोकगीत और कविताएं न सिर्फ उसकी दर्द और वेदना को बयां करते हैं परन्तु उसमें प्रतिरोध भी दर्ज हुआ है। कन्या जन्म पर परिवार की उपेक्षित प्रतिक्रिया पर स्त्री का गुबार इस लोकगीत में साफ दिखता है जहां वह कहती है कि यदि उसे पता होता उसके गर्भ में कन्या है तो वह उसे जन्म ही नहीं देती।

भाषा वैज्ञानिकों की दृष्टि से विद्वानों को उनके व्याकरण के लिए सम्मान भले ही दिया जाता हो। किन्तु प्रकृति के सानिध्य में बोली से लेकर भाषा तक के विकास का श्रेय आम जन को ही दिया जाना चाहिए। मानव सभ्यता के विकास के समय से ही मां तुल्य प्रकृति का प्रभाव समग्र मानव जीवन पर पड़ता रहा है। भारतीय समाज और लोकगीतों में जहां राजा और ईश्वर की लोक कथाएं प्राप्त होती है, वहीं सामान्य जनता का विषाद, विद्रोह, प्रतिरोध, वेदना और लोक जीवन की विविध विसंगतियां भी दृष्टिगत होती है। कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति और जनजीवन को समझने के लिए लोकगीतों का अध्ययन करना एक अनिवार्य शर्त है। लोकगीत, लोक कहानियां और लोक कविताएं हमारे जीवन का महासमुद्र है। जिसमें भूत, भविष्य तथा वर्तमान सुरक्षित है। दूसरे शब्दों में

लोकगीतों के रचनाकार भारतीय समाज की वह अशिक्षित आम-जनता है जो समाज के सबसे निचले स्तर के रूप में चिन्हित की जाती है। जिसे हम आदिवासी, गवार, देहाती और आम आदमी कहते हैं जो समाज की मुख्यधारा से कटा हुआ है, जिस तक शिक्षा और आधुनिक सभ्यता की किरणें बहुत कम पहुंचती है। फिर भी उसकी अपनी एक भाषा है, संस्कृति है, साहित्य है जिसे क्रमशः लोक भाषा, लोक संस्कृति और लोक साहित्य का नाम देते हैं। लोकगीतों की अधिकांश रचनाकार महिलाएं ही है। ऐसी महिलाएं जो सदियों से समाज की मुख्यधारा से कटी हुई है, पठन-पाठन से वंचित रही। इन लोकगीतों में लोक जीवन का संपूर्ण जीवन भी चित्रित है। शिशु के प्रथम क्रंदन से लेकर जीवन के अंतिम संस्कार तक के भावचित्र लोकगीतों में मिलते हैं। भाई से मिलने को व्याकुल बहन की व्यथा कथा, स्त्रियों का आभूषण प्रेम, सास, ननंद और सौतन के अत्याचारों से पीड़ित स्त्री की मनोदशा, कृषक परिवार की विपन्नता, वीरों की शौर्य कथा, मिलन और विरह के रंगारंग भाव इन लोकगीतों में मिलते हैं। इन लोकगीतों में स्त्रियों की अपनी भावनाएं, परंपराओं के प्रति क्षोभ, पितृसत्तात्मक जकड़न की छटपटाह और अपने निजी जीवन के सुख-दुख, आशा-आकांक्षा, वेदना विरह, मिलन की जीवंत अभिव्यक्तियां दिखाई देती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय लोक जीवन का ऐसा कोई भी आयाम नहीं छूटता जिस पर लोकगीतकारों की दृष्टि न पड़ी हो। सबसे बड़ी बात यह है कि इन लोकगीतकारों में व्यक्तिगत अहम की भावना न होकर लोक जीवन के प्रति एक प्रकार की प्रतिबद्धता पाई जाती है। प्राचीन काल से ही लोकगीत, लोककाव्य, लोक संगीत और लोक नृत्य आम लोको की संपत्ति रही है। स्त्री जीवन से संबंधित सभी भावनाएं पितृसत्तात्मक व्यवस्था में जकड़ी हुई स्त्री का रुदन कई रूपों और तेवरों में लोकगीतों में अभिव्यक्त हुआ है। जिसे हम समकालीन कवियों तथा कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताओं में महसूस करते हैं। कहीं यह बेटी के जन्म पर विषाद पूर्ण वातावरण को व्यक्त करता है, कहीं बेटी द्वारा बेटे की अपेक्षा

उससे भेदभाव पूर्ण व्यवहार के प्रतिरोध में व्यक्त हुआ है। कहीं विवाह के बाद मायका छोड़ने की मजबूरी की करुण विदाई में, तो कहीं पितृगृह जाने के उत्साह एवं उल्लास में तो कहीं सास और ननंद की शिकायते में।

लोकगीतों की यह विशेषता है कि उनमें में अभिव्यक्तियां सीधी, सरल और यथार्थ होने के कारण अत्यंत मार्मिक है तथा सीधे-सीधे ह्रदय को स्पर्श करने में समर्थ होती है। लोकगीतों में बेटी का अपने माता-पिता को छोड़ने की मजबूरी है उससे वह दुखी है। अपना घर-परिवार गांव, गलियां सब कुछ सदा के लिए छोड़ती है। यह मोह को छोड़ना आसान नहीं है। नैहर छूटता जा रहा है। लोकगीतों का क्षेत्र बहुत व्यापक और बहुआयामी रहा है। रोजी रोटी के लिए लोग देश-विदेश भटकते हैं। घर, पत्नी को छोड़कर प्रिय परदेस चला गया है। इस बात की अभिव्यक्ति कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताओं में बड़ी बारीकी से हुई है।

लोग कविताओ में विविध रूपों में स्त्री विमर्श की आदिम गुनगुनाहट सुनाई देती है। इसमें स्त्री-पुरुष संबंधों के विविध आयाम मौजूद है। बालिका के जन्म से लेकर मृत्यु तक उसके जीवन के विविध मोड सुख-दुख से लेकर हर्ष-विषाद, आशा-निराशा, वेदना, करुणा, प्रेम, आक्रोश, प्रतिरोध, उदात्त भावनाएं और सहज स्वाभाविक ढंग से सरल, सहज भाषा एवं शिल्प के साथ अपनी अस्मिता बनाए हुए हैं। इन लोकगीतों में हम भारतीय नारी की मर्यादा और उसकी विडंबनाओं की प्रतिछवियां देख सकते हैं जो हमारे आधुनिक स्त्री विमर्श के लिए भी उपयोगी साबित हो सकती है।

कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव की स्त्री संबंधित कविताओं में 'लोक का चेहरा' दिखता है। उनकी कविताओं को पढ़ते हुए आंखों को यह सहज विश्वास नहीं होता कि उनके यहां लोक इतने गहरे रूप में तथा सशक्त रूप में उपस्थित है। उनको पढ़ते हुए बार-बार कवि केदारनाथ सिंह की याद आती हैं। यह कहना गलत नहीं होगा कि कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव केदारनाथ सिंह की परंपरागत धारा को आगे बढ़ाने

वाले और उसमें बहुत कुछ नया जोड़ने वाले कवि है। यदि आप लोक का चेहरा देखना चाहते हैं और उससे मिलना चाहते हैं। उसे पढ़ना चाहते हैं, उसके साथ उसके हाट-बाजार, खेत-खलियान में घूमना चाहते हैं या उसके रसोई का स्वाद चखना चाहते हैं, तो आप कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताओं को एक बार पढ़ कर देखिए। कवि का 'लोक' अतिसामान्य शब्द और सामान्य चीजों से बना है। जैसे लालटेन, पीठा, छाता, बथुआ साग, सामान्य लोग और सामान्य स्त्रियों से। लेकिन यह सामान्य चीजें कवि के हाथों में आते ही असामान्य दिखने लगती है और अपनी उपस्थिति दर्ज कराने लगती है। उन स्त्रियों की सारी जिंदगी जांत पर गेहूं पिसते और गीत गाते हुए उस पति के इंतजार में बीत जाती है जो विदेश चला गया है। 'लोक' का विदेश कोई विकसित देश नहीं परंतु हमारे देश का एक शहर है। अपने बच्चों के चेहरों पर मुस्कान देखने के लिए यह लोग अपने मुल्क की मिट्टी-पानी और बोली-बानी, घर, गांव, यार, दोस्त, बीवी और बच्चों को छोड़ कर रोजी-रोटी की खोज में मजदूरी करने चले जाते हैं। कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव 'श्रम की आस में तपे इन चेहरों' को अपनी कविता के माध्यम से लोग का चेहरा तथा स्त्री मन को अभिव्यक्त हैं-

"यदि कोई देखना चाहे

हमारे लोक का चेहरा

वह देख सकता है

श्रम की आंच में तपे इनके चेहरे

इनके चेहरों पर

अपनी सांवली आभा के साथ

दिप-दिपाता है हमारा लोक।"[2]

'लोक' में प्रचलित और स्त्री जीवन से संबंधित 'गोधनपर्व' को भी कवि ने अपनी कविता 'वे उड़ती है गौरैयों की तरह' में जगह दी है। इस पर्व के माध्यम से वे हमारी लोक संस्कृति तथा लोक परंपराओं को रेखांकित करते हैं। गाय के गोबर से गोधन बनाकर बहने अपने भाइयों की लंबी उम्र तथा सुखी जीवन की प्रार्थना करती है-

"वे गाती है गीत

अपने भाइयों के लिए

और प्रार्थना करती है उनके

लंबे और सुखी जीवन की।"[3]

दिन के तीसरे पहर तक निर्जला रखकर वे व्रत की आंच में तपकर भी गौरैयों की तरह उड़ती रहती हैं, पर आज शहर के जीवन में यह संस्कृति लुप्त हो चुकी है। गोबर से गोधन बनाना और लोकगीत गाना आज लज्जा की बात लगती है सबको। यह महज एक पर्व नहीं था परन्तु यह भाई-बहन के अटूट- प्रेम और विश्वास का प्रतीक था। यहां हमारी एक सांस्कृतिक पहचान थी। जो आज होती जा रही लुप्त कहीं।

कवि की एक कविता है 'पूस'। 'पूस की रात' प्रेमचंद की एक कहानी भी है। पूस की रात में हल्कू की सारी फसल बर्बाद हो जाती है। और इसी पूस की शीतलहर में कवि के लोक के 'गांठ के पैसे' 'दवा दारू' में खत्म हो गए हैं। हड्डियों को कपा देने वाली कड़ाके की ठंड में जानवर और इंसान का भेद खत्म हो गया है। 'पूस की रात' में भी जानवर और इंसान के बीच की दूरी खत्म हो जाती है। पूस की शीतलहर मकरसंक्रांति की खुशी को भी निगल जाती है। उनके घरों से खिचड़ी तथा खुशी दोनों गायब हो जाती है। फिर भी वे इस विकट परिस्थिति को हंसी में उड़ा देते हैं-

"दांत किट-किटाते कहता है लोकाई

बांधो गांती

बांधो मफलर

घुसी हवा जो कानों में

निकल जाओगे जहान से।"[4]

इस कविता में कवि 'लोक' के शब्दों का बेधड़क इस्तेमाल करता है। जैसे गोरु, गठरी, कौड़ा, शीतलहर, दवा-दारू, गाती और जहान आदि। 'लोक' के इन शब्दों के लुप्त होते जाने की प्रक्रिया से भी कवि चिंतित दिख रहे है-

"जीवन की दिशाओं में

घुमरी लगाते

धीरे-धीरे बिला जाते हैं

बहुत से ऐसे शब्द

जिनकी उंगली पकड़कर

हमने सीखी थी कभी भाषा

पहचानी थी कभी दुनिया।"[5]

आज हमारी दुनिया बदल रही है। 'तरकारी' तथा 'भात' जैसे अनेक शब्द हमें गंवारू लगने लगे है। आज इन शब्दों का उच्चारण 'गंवारूपन' का प्रतीक माना जाता है। किन्तु कवि ने ऐसे ग्रामीण शब्दों का इस्तेमाल अपनी कविताओं में खूब किया है और बताया है कि ग्रामीण से लगने वाले यह शब्द वास्तव में कितने सुंदर और सहज हैं। कवि केदारनाथ सिंह अपनी 'शब्द' नामक कविता में लिखते हैं-

"ठंड से नहीं मरते शब्द

वे मर जाते हैं साहस की कमी से

कई बार मौसम की नमी से

मर जाते हैं शब्द।"[6]

कवि केदारनाथ की तरह कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव भी पूरे विश्वास तथा साहस के साथ लोक के शब्दों का इस्तेमाल करते हैं। मौसम के खराब होने के बाद भी कवि शब्दों को मरने नहीं देते।

शब्दों की ही तरह लोक जीवन की कुछ पुरानी वस्तुओं के गायब होने की आशंका से कवि का ह्रदय व्यथित हो उठता है। कवि जितेन्द्र की एक कविता है- 'दिल्ली में लालटेन'। कवि को यह बात बहुत परेशान करती है कि दिल्ली जैसे बड़े शहर के घरों में कहीं भी लालटेन के लिए जगह नहीं है। यह दिल्ली के ही नहीं कोलकाता, मुंबई, चेन्नई या फिर भारत का कोई भी शहर हो सकता है। सच्चाई यह है कि इन शहरों के घरों में और उन घरों में रहने वाले लोगों के जीवन में कहीं भी लालटेन के लिए जगह नहीं है। एक स्त्री के जीवन में लालटेन का अधिक महत्व है आज भी हमारे देश के कई गावों में स्त्रिया घर का खाना लालटेन की रोशनी में ही बनाती है। नई संस्कृति में यह चीजे उपेक्षित होती जा रही है। कवि विचलित होकर प्रश्न करता है-

"मैं अपनी लालटेन को कहां रखूं

किस ताख़ पर

किस दियाठी पर

कहां टांग दूं

किस खूंटी पर।"[7]

यहां लोक जीवन के तीन शब्द ताख, दियाठी और खूंटी आए हैं। इन तीन जगहों पर ही लालटेन रखा और टांगा जाता था। आज घर के नक्शे से ताख, दियाठी, खुटी गायब हो गया है। यह स्थिति सिर्फ शहरों में ही नहीं, बल्कि गांव में भी हो गई है। यहां कवि की बेचैनी तथा चिंता काल्पनिक नहीं है। उनकी इस बेचैनी में उस संकट का अंदाजा लगाया जा सकता है। जिसकी तरफ कवि इशारा कर रहे हैं। कवि इस बात के लिए भी बेचैन है कि हमारी सांस्कृतिक धरोहर और मूल्य भी नष्ट होते जा रही है, उसके लिए कोई भी जगह नहीं है। कवि की बेचैनी निरर्थक नहीं है। अपनी बेचैनी और व्याकुलता को काव्य रूप में अभिव्यक्ति देना कवियों की विशेषता रही है। कवि केदारनाथ जी भी ऐसे ही बेचैन दिखते हैं, अपने 'नन्हे गुलाब के लिए'।

कवि के लालटेन को और विस्तार दे तो मनुष्य एवं लालटेन का संबंध बहुत पुराना है। इसी लालटेन की रोशनी में कवि ने आंखें खोली थी। इसी की रोशनी में कवि ने वर्णमाला सीखी थी। इसी की रोशनी में कवि ने अपने पिता के बदलते चेहरे को जाना था। मां के गीत पंक्तियों की गूंज और जल में उठते तरंगों को देखा था। कवि कहते हैं कि-

"जब सर्दियों में एक रात

मेरे शहर में नहीं थी बिजली

मैंने लालटेन की आंच भरी रोशनी में

लिखा था पहला प्रेम पत्र।"[8]

उपेक्षित होने के बाद भी लालटेन ने किसी से कोई शिकायत नहीं है। महानगर में हर चीज की जगह सुरक्षित है सिवाय लालटेन के। कवि लालटेन के महत्व को बताते हुए कहते है-

"लालटेन न होती

तो कितना मुश्किल होता है रहना बभनान में

रात गुजर जाती अंधेरे में

पढ़ना नसीब नहीं होता किसी रात

सोती रहती रोती रहती किताबें

रात भर अलमारियों में

झींगुर टहलते मेज पर

ताना मारते कान के पास जाकर।"[9]

'बभनान' के 'आचार्य देवेंद्र देव किसान स्नातकोत्तर महाविद्यालय' में कुछ समय कवि जितेन्द्र प्राध्यापक के पद पर रहे थे। यह जानकारी इसीलिए कि कवि की कविताएं सामान्य, वास्तविक और निजी जीवन से आ रही है। शहरी जीवन का उपेक्षित लालटेन गांव के लिए आज भी बहुत उपयोगी है। अगर यह लालटेन नहीं होता तो झिंगुर भी ताना मारने से नहीं चूकते। कवि के अंधेरे नसीब पर। पर समय का चक्र देखिए। लोगों को अंधेरे से उजाले में लाने वाला लालटेन आज खुद अंधेरे का शिकार हो गया है।

भले ही महानगर की चकाचौंध भरी रोशनी में लालटेन की जरूरत न महसूस होती हो। किन्तु जिस दिन बिजली चली जाएगी उस दिन महानगर का जीवन अमावस की रात की तरह ही हो जाएगा। तब यह उपेक्षित लालटेन ही काम आएगा। मिट्टी का थोड़ा सा तेल और एक बाती ही काम आएगी। उसमें इतनी रोशनी तो जरूर ही रहेगी जिसकी आंच में रसोई में बन सकेगी रोटियां और अपने प्रिय किताब से पढ़ा जा सके एक पन्ना।

इसी तरह की एक और कविता है 'दिल्ली में बेना'। बेना यानी हाथ पंखा। शायद आज की युवा पीढ़ी बेना भी नहीं समझती होगी। बेना है बहुत काम की चीज। खुद पसीने से तरबदर होकर भी दूसरे के पसीने को सुखाती रहती है। इसका भी दुर्भाग्य इसके साथ चल रहा है। आज यह भी खत्म होती जा रही है। अब ना तो बेना बनाने वाले रह गए हैं और ना इसका इस्तेमाल करने वाले। बांस की कमचियों से बनता था बेना। किन्तु आज बाजार में प्लास्टिक का दिखता है बेना। जिससे वह हवा और ताजगी नहीं मिलती जो मिलती थी बांस की कमचियों से बनी बेना से। लेकिन आज कवि दिल्ली में रहते हुए भी अपने गांव से लालटेन और बेना लेकर आए हैं। जब दिल्ली में एक रात-

"न हवा थी न रोशनी

आशा डूबी रही थी

अंधेरे के समुद्र में।"[10]

तब यह लालटेन और बेना काम आया था। इसी से दूर हुआ था घर का अंधेरा और बेना के ठंडी हवा में बीती थी मुश्किल रातें।

आधुनिकीकरण के इस दौर में 'पीटा' भी उपेक्षित होता जा रहा है और 'पीटा' महज लकड़ी का सामान नहीं है। वह हमारा आधार था और सम्मान का प्रतीक था। "घर आए मेहमान को ऊंचा पीटा मिलता था दुश्मन को भी।"[11] 'पीटा' एक सांस्कृतिक धरोहर है। कवि उस 'पीटे' के सहारे वह 1947 का देश विभाजन, 1952 का आम चुनाव, 1962 की लड़ाई, 1971 की लड़ाई, इमरजेंसी और न जाने कहां कहां तक पहुंच जाते है। वह 'पीटा' कवि की मां की किताब है, जिसके सहारे वह अपने विवाह से लेकर बेटे और बेटी तक के जन्म तक का सफर तय करते है। कवि जितेन्द्र के ही शब्दों में-"इस पीटे को बनाया बढ़ई ने/उन्नीस सौ बावन के आम चुनाव के दिनों में/लकड़ी ओल्ली मियां के घर से आई थी/वही ओल्ली मियां जिनका एक बेटा/सैतालिस में पाकिस्तान चला गया/अब भी देखिए

इस पर/मां की उंगलियों के निशान होगे जहां-तहां/वह जब भी देखती है इसे/उसकी आंखों में पिछले बावन साल उभर आते हैं/दीदी का जन्म, भईया का जन्म, बासठ की लड़ाई/इकहत्तर की लड़ाई, इमरजेंसी और न जाने क्या-क्या।"[12]

आधुनिकीकरण के कारण लालटेन तथा पीटे की तरह आज 'बैल' भी कम होते जा रहे हैं और इनके साथ कम होते जा रहे हैं-"एक फाल वाले वे हल/जिन्हें खींचते हैं एक जोड़ी बैल/बैल/हा भाई, बैल/खत्म होती जा रही है जिन की उपयोगिता।"[13] आज उस बैल की उपयोगिता खत्म हो रही है जिसके कंधों ने सबसे पहले हमारी नाक को अनाज की सुगंध तक पहुंचाया था। कवि हमें यह बताना नहीं भूलते की-

"मटर के हरेपन में

सरसों के पीलेपन में

अरहर की जड़ में

जो चीजें सबसे पहले घुसी होगी

वह पसीना रहा होगा बैलों का।[14]

बैल के पसीने के बाद जो दूसरी चीज घुसी होगी इन फसलों की जड़ों में वह होगा किसान तथा किसान की पत्नी का पसीना। आज बैल तथा किसान दोनों कम होते जा रहे हैं। यें दोनों आज समय की दौड़ में पिछड़े साबित हो गए हैं। संसद भवन में बहस होती है इन्हीं पर, पर इनके काम नहीं आती यह बहस। दुनिया में भले ही इनकी उपयोगिता कम हो गई हो। किन्तु बैल के लिए किसान और किसान के लिए बैल की उपयोगिता कम नहीं हुई है। पर यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि यह उपयोगिता ऐसी ही हमेशा बरकरार रहेगी। यदि यह स्थिति रही तो शायद किस्से और कहानियों में सिमटकर रह जाएंगे किसान तथा बैल। हम सुनाएंगे अपने बच्चों को 'एक किसान था जिसके पास एक जोड़ी बैल थे'। पर

हम दिखा नहीं पाएंगे किसान और बैल को जैसे आज हम दिखा नहीं पाते राजा-रानी या राजकुमार-राजकुमारियों और परियों को'। वे सोचेंगे कि "कैसे रहे होंगे वे लोग/जिन्होंने सोचा होगा उपयोग/बैल का, भैंस का, गधे का"।[15] किसी दिन वे ऐसा सोचेगे यह सोचकर ही मन बेचैन हो जाता है। आधुनिकीकरण के कारण आज लालटेन, बेना और बैल विलुप्त होते जा रहे हैं

कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव लोकजीवन की सामान्य से सामान्य चीज को भी कविता का विषय बना देते हैं। 'बथुआ' साग भी कवि के कविता का विषय है। यह बिना बोये ही उग जाता है। कभी फसल को बचाने के लिए उखाड़ दिया जाता है इसे खेत से। तो कभी जीवन बचाने के लिए मोल लिया जाता है। संकट के दिन में लोग के लिए यह 'बथुआ' साग ही आधार बनता है। जीवन के लिए। यह मामूली 'बथुआ' कवि के हाथों में आकर विशेष बन जाता है। सामान्य चीजों को कविता का विषय बनाने की परंपरा केदारनाथ जी के यहां भी खूब है। केदारनाथ सिंह के यहां आलू, कुदाल, नमक, पानी, ट्रक, पेड़, मिट्टी, चिलम, जानवर, बैल, घोड़ा, चूल्हा, रोटी, घास-भूसा, कुल्हाड़ी, कौआ, घड़ी, हाथ, भूख और टमाटर बेचने वाली बुढ़िया से लेकर दुश्मन आदि भी कविता का विषय है। केदारनाथ जी की तरह कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव के यहां भी पीटा, छाता, लालटेन, लूंगी, चाय, कटोरी, पानी, पहाड़, नदी, खेत, कुदाल, बंसूला, खुरपी, कैंची, धुन, खटिया, धतूरा, भुट्टा, मकई, रेल, बस, दूध, धूप, गोबर, चिड़िया, पतंग, हवा, स्टेशन, सूर्य, घर आदि जैसे काव्यबिम्ब मिलते हैं। केदारनाथ जी की तरह इनके यहां भी ठेठ गंवई वातावरण के शब्द मिलते हैं। यहां सारे बिम्ब और शब्द हमारे सामने एक चित्र उपस्थित कर देते हैं। "थोड़ा लिखना और बहुत समझना"[16] वाली बात इनके यहां चित्रित होती हैं। इसीलिए कह सकते हैं कि कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव केदारनाथ जी की परंपरा को आगे बढ़ाने वाले कवि है।

समय के साथ हमारी खुशियां तथा लोक का यह चेहरा धूमिल हो जाता रहा है। यह चीजें छुट्टी जा रही है। "जैसे समय के साथ छूट जाते हैं बहुत से लोग/समय

के साथ भुला जाते हैं बहुत से लोग"[17] वैसे ही समय के साथ लोग का यह चेहरा भी छूट गया है, भुला दिया गया है। सच्चाई यह भी है कि हम में से कोई इसे लेकर चल भी नहीं रहा। ना साथ में और ना की यादों में। कवि जितेन्द्र की कविताएं आज के वास्तविक और कठोर स्थिति को स्पष्ट करती हुई चलती है।

जब महानगर के इस माहौल में गांव और देहात की संस्कृति और परंपरा गायब होती जा रही है। लोगों की भाव, संवेदनाएं अपनी संस्कृति और पुराने प्रतीकों की तरफ से कम होती जा रही है। ऐसे समय में कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव ऐसी उपेक्षित चीजों को अपनी संवेदना का अंग बनाते हैं। सिर्फ बनाते ही नहीं किन्तु दूसरों की मरी हुई संवेदना को भी पुन: जीवित करने की कोशिश करते हैं और कवि इस कोशिश में एक हद तक सफल भी होते हैं।

कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताओं में 'लोक-जीवन' के साथ समकालीन 'स्त्री विमर्श' भी अपनी अस्मिता के साथ उपस्थित है। स्त्री पक्ष के बिना लोक पक्ष अधूरा है। स्त्री विमर्श के इस परिवेश में कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव की स्त्री संबंधी कविताएं उम्मीद की किरण की तरह दिखती है। कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताओं में लोक जीवन के साथ स्त्रियों का बहुआयामी रूप उभर कर हमारे सामने प्रस्तुत हुआ है। उनकी कविताओं में घास गढ़ती, ट्रेन में भीख मांगती, पहाड़ पर बोझा ढोती, घर-परिवार, पति तथा बच्चों को संभालती तथा ऑफिस का काम करती तमाम तरह की औरतें मौजूद है। कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव स्त्री की पीड़ा, समस्या, तकलीफ और उन के मन की इच्छाओं को जानने के लिए स्त्री की जगह खड़े होकर सोचते हैं। कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव स्त्री को पुरुष की दृष्टि से नहीं परंतु एक स्त्री की नजर से देखते हैं। स्त्री लेखिकाएं भले ही पुरुष लेखन को स्वीकार न करें परंतु कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव जैसे महत्वपूर्ण कवियों के महत्व को नकारा नहीं जा सकता। देश के इतिहास में जब भी स्त्री की समस्या पर बात होगी, तब कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताएं अग्रिम पंक्ति में होगी। जैसे कि

सोनचिरई, नमक हराम, पुकार, आभा चतुर्वेदी, लड़कियां, रामदुलारी, सिंदूर, परवीन बॉबी, बेटियां आदि।

कवि जितेन्द्र स्त्री के देह की थकान और आखों की नींद से गुजरते हुए उसके मन तक का सफर तय करते हैं। कवि की कविता है 'आभा चतुर्वेदी'। इस कविता में कवि यह दिखाते हैं कि स्त्री अपने मन की इच्छा के अनुसार अपना जीवन भी नहीं जी सकती। आभा चतुर्वेदी, आभा शर्मा होना चाहती थी, लेकिन उसे बनना पड़ा अंत में आभा द्विवेदी, यही स्त्री की नियति है। हामरे लोक जीवन और पुरुषवादी समाज में उसकी इच्छाओं तथा आकांक्षाओं का कोई मूल्य नहीं। वे अपने अनुसार स्वच्छंद और स्वतंत्र जीवन जीना चाहती है। वह भी अपने मनपसंद साथी के साथ। कविता की शुरुआत होती है आभा चतुर्वेदी के द्वारा 'कहो ना प्यार है' फिल्म का पोस्टर निहारते हुए। एक पुरुषवादी समाज में टॉकीज के बाहर खड़े होकर फिल्म का पोस्टर देखना उसका विद्रोह ही है। किन्तु इस विद्रोह को जागृत होने में 4 वर्ष का समय लगा। 4 वर्ष पूर्व विवश होकर आभा ने अपनी आंखों के आंसू से अपने काजल और सपने दोनों को धो दिए थे। लेकिन आज वह अपने पिता, पति और घर-परिवार के बारे में नहीं, बल्कि अपने बारे में बात करती है। वह कहती है कि-

"अकेली रहती हूं

आभा चतुर्वेदी लिखती हूं

आसपास के लोग इसी नाम से जानते हैं।"[18]

ध्यान से देखिए यह वही आभा चतुर्वेदी है जो 4 साल पहले आभा द्विवेदी हो गई थी। परंतु आज उसने अपनी एक अलग पहचान बना ली है। अपने खुद के नाम की। आज उसकी पहचान ना तो उसके पिता से है ना पति से ना ही घर-परिवार से। शायद इसे ही कहते हैं लोक जीवन में स्त्री अस्मिता। कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव का यह सपना है कि एक स्त्री को उसके नाम से ही जाना जाए। आज

आभा चतुर्वेदी एक टॉकीज के बाहर खड़ी होकर एक पुरुष को अपना नंबर दे रही है। क्या यह बदलाव नहीं? आज की स्त्री विमर्श कविताओं से कितनी अलग तथा सुंदर दिखती है यह कविता। कवि की यह विशेषता धीरे से उन्हें उनके समकालीनओं से अलग कर देती हैं।

कवि की दृष्टि से लोक जीवन में कामकाज करती स्त्रियों की समस्याए भी ओझल नहीं हो पाई। 'यह स्त्री, जिसे देख रहे हैं आप' शीर्षक कविता चढ़ती दुपहरी की चिलचिलाती धूप में बोझा ढ़ोती हुई स्त्री की समस्याओं का वर्णन करती है यह कविता। यह कविता धारचूला की स्त्रियों की समस्याओं तथा परेशानियों पर होते हुए भी संपूर्ण मेहनतकश स्त्री जाति का प्रतिनिधित्व करती है। यह मेहनत करने वाली स्त्रियां सुबह अंधेरे में ही घर से निकल पड़ती है, रोटी के जुगाड़ में। यह अपने परिवार के सुख के लिए अपनी शक्ति की सीमा तक अपनी पीठ पर बोझा उठाती है। इन स्त्रियों ने कभी रेलगाड़ी, लखनऊ या दिल्ली नहीं देखा। इसलिए इनके अंदर संवेदना का भाव बचा हुआ है। तभी तो -"मुजफ्फरनगर की एक मनहूस दोपहर/शूल की तरह चुभती है उसे।"[19] काम और मजदूरी के चलते वे 30 की उम्र में 47 की दिखती है। कवि लिखते हैं कि -"तीस की उम्र में सैंतालीस की चिंताओं का घर है।"[20] हमारे समाज में स्त्रियों का एक उच्चवर्ग ऐसा भी है जो 47 की उम्र में 30 की दिखती है। अब कुछ आगे कहने की जरूरत नहीं। कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव बहुत दूर तक इशारा कर देते हैं।

हमारे लोक में स्त्रियों का एक बहुत बड़ा वर्ग ऐसा भी है जो घर में रात-दिन काम करती रहती है। जिन्हें हम 'गृहिणी' या 'housewife' के नाम से जानते हैं। यह स्त्रियां घने अंधेरे में लगभग 4 या 5 बजे आंखों में नींद तथा देह में थकान लेकर उठती है। सुबह-सुबह अपने पतियों के लिए चाय बनाती है। उनके लिए नहाने का पानी गर्म करती है। उनके कपड़े प्रेस करती है, जूते पॉलिश करती है और पति देह तोड़ते हुए। आंख मलते हुए उठते हैं बिस्तर से। इन स्त्रियों को काम से कभी छुट्टी नहीं मिलती। उल्टा छुट्टी के दिन इनका काम ओर भी बढ़ जाता है।

समस्या यह है कि इन स्त्रियों के काम को काम में गिना भी नहीं जाता। कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव स्त्रियों की समस्या पर सोचते हुए इस पहलू पर भी विचार करते हैं।

कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताओं में वह स्त्रियां भी है, जो इस लोक में 'किराएदार की तरह' रहती है। यह स्त्रियां सवेरे मुंह पर पानी का छींटा देकर, लोकल ट्रेन में पीठ पर अपने बच्चों को बांधे यह गीत गाते हुए भीख मांगती है कि -"जिंदगी इक किराये का घर है/एक दिन इसको बदलना पड़ेगा।"[21] यह स्त्रियां अपने बेरंग जीवन को पान के रंग से लगातार रंगने की कोशिश करती नजर आती है। जब कोई पुरुष उनसे मजाक करता है तो वे तिलमिलाकर रह जाती है।"पर गायब नहीं होने देती होठों की हंसी/उन्हें हसाता रहता है पेट का डर।"[22] और यह बेशर्म पुरुष इसी का फायदा उठाकर "अपनी आंखें टांक देते हैं उसकी देह पर/और अक्सर करते हैं उनसे चुभते मजाक/हद तो यह भी/कि कभी मां से तो कभी बेटी से।"[23] कवि एक पुरुष होकर भी दुसरे पुरुष की इस बेशर्मी का पर्दाफाश कर देते हैं। यह वास्तविकता है लोकल ट्रेन की रोजाना पुरुष पैसेंजरों की। उनकी नजरें इन स्त्रियों की देह से अलग नहीं हट पाती। लोकल ट्रेन के डिब्बे के साथ-साथ छोटे स्टेशनों के प्लेटफार्म पर भी यह सारा कुछ रोज होता है इन महिलाओं के साथ। रेलवे स्टेशन के प्लेटफार्म पर 60 साल के बूढ़े अपनी पोती की उम्र की स्कूल, कॉलेज की लड़कियों के बारे में अश्लील टिप्पणियां करते हैं। ऐसे केशवदास अक्सर दिख जाएंगे प्लेटफार्म पर। जो 'दादा' शब्द सुनते ही भीतर ही भीतर कुढ़ जाते हैं।

कवि इस कविता में दिखाते हैं कि हमारे लोक जीवन की यह स्त्रियां भले ही गरीब हो, अशिक्षित हो, बेघर हो किन्तु ये कभी भी अपनी किसी गलती पर अपने बच्चों या फिर सुहाग की झूठी कसमें नहीं खाती है। यह स्त्रियां उस रोजी की कसम खाती है। जिससे वे ना चाहते हुए भी कर रही है। हमारा समाज, सरकार तथा विकास की कोई भी नीति उन्हें इस नर्क से नहीं निकाल पा रही है। उनका

किराएदार की तरह एक डिब्बे से दूसरे डिब्बे या फिर एक ट्रेन से दूसरी ट्रेन में घूमना हमारे लोकतंत्र की सबसे बड़ी असफलता है।

कवि की स्त्रियां "हंसती है विधाता पर/कभी कोसती है विधाता को/कहती है जो विधाता स्त्री होता/तो सोचो सखी, कैसा होता।"[24] आप भी जरा सोचिए गा। विधाता पुरुष है या स्त्री? एक स्त्री को बच्चा पैदा करने में कितनी कठिनाई होती है। मौत से लड़कर एक जिंदगी को जन्म देना आसान नहीं एक स्त्री के लिए। यह कार्य स्त्रियां ही कर सकती है पुरुष के बस की बात नहीं। विधाता यदि स्त्री होता तो वह समझता बच्चे को जन्म देने में एक स्त्री को कितनी पीड़ा, कितनी तकलीफ सहनी पड़ती है। बात बिल्कुल सही है। यदि विधाता स्त्री होता तो समझता एक स्त्री को किन-किन समस्याओं और पीड़ा से गुजरना पड़ता है।

खेतों और खलिहानों में में धान रोपनेवाली, सोहनी करनेवाली, गारा-माटी उठानेवाली स्त्रियां दिन भर काम करने के बाद अपने पतियों को रोटी खिलाती हुई खाती है गालियां। इस वास्तविकता से कवि भागते नहीं है किन्तु वह पूरी हिम्मत के साथ इस का चित्रण करते है कविताओं में। यह स्त्रियां अपना दुख भूल कर अपने परिवार का दुख थाम लेती है। परंतु इनका दुख कोई नहीं थामता। यह स्त्रियां घर और बाहर दोनों का काम करती है।

कवि जितेन्द्र की 'इन दिनों हालचाल' कविता संग्रह की 'घास गढ़ती औरतें' एक अद्भुत कविता है। 'घास गढ़ती औरतें' धरती माता के साथ-साथ अपने परिवार के जीवन को भी चिकना देती है। इन स्त्रियों की मेहनत पशुओं के नाद और परिवार दोनों में हरापन भर देती है। यह स्त्रियां हर जगह हर तरफ हरापन ही देखना चाहती है। घर से जीवन तथा जीवन से नाद तक। कवि जितेन्द्र बताते हैं कि इन औरतों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि-"घास गढ़ती औरतें/बच्चों की पढ़ाई लिखाई और/सेहत के लिए/खूब लड़ती पतियों से/जायज बातों पर खुश/और नाजायज बातों पर/साड़ी खुंटियाकर लड़ने को तैयार/घास गढ़ती औरतें/कभी नहीं

सिखाती है जवान बेटियों को/कि पति परमेश्वर होता है!"[25] सही तो है जायज बातों पर खुश और नाजायज बात पर लड़ने को तैयार। आखिर यही तो चाहते हैं कवि स्त्रियों से। वे सहे नहीं लड़े साड़ी खुंटियाकर लड़े अपने मान-सम्मान और अधिकारों के लिए। घास गढ़ती औरतें के साथ-साथ कवि की भी यही इच्छा है कि मां अपनी बेटियों को कभी यह ना सिखाए कि पति परमेश्वर होता है। वास्तविकता तो यह है कि यह पुरुषवादी समाज की एक चाल है। स्त्री जाति का शोषण करने के लिए।

इतना ही नहीं कवि जितेन्द आगे कहते हैं कि ये औरतें "हर शाम सेंकती है आग/अलाव को घेरकर/ताकि टहककर रेंग सके/रगों में जमा हुआ खून।"[26] यह स्त्रियां कभी अपने खून को जमने नहीं देती। आखिर में कवि लिखते हैं कि-"घास गढ़ती औरतें/सोने से पहले सुबह के लिए/बोरसी की राख में छिपाकर/रख देती है थोड़ी सी आग।"[27] कवि की भी यही चाहते हैं कि जिस तरह बोरसी के भीतर आग छिपी रहती है। वैसे ही स्त्रियां भी अपने दिल में आग को बचाकर रखें। बोरसी की आंख अंदर से जितनी प्रचंड होती है। उतनी ऊपरी स्तर पर दिखती नहीं। इस कविता में ध्यान देने वाली एक और बात है। कवि किसी उच्च वर्ग और बड़ी कंपनी में काम करने वाली स्त्री को नहीं किन्तु एक घास गढ़ने वाली औरत को आदर्श के रूप में उपस्थित करते हैं। अर्थात कवि की दृष्टि सामान्य लोक जीवन पर टिकी हुई है। इस कविता के अनुरूप ही लोक भाषा और शब्दों का चुनाव सहज रूप से किया गया है जैसे कि बोरसी, हरापन, गठरी, बटोरना, खाची, सिवान, जायज, नाजायज, खुटियाना आदि लोक भाषा के शब्द कविता को और भी अर्थपूर्ण बना देते हैं।

स्त्री जीवन पर आधारित जितेन्द्र श्रीवास्तव की एक कविता है 'रमिया' इस कविता में एक स्त्री है रमिया जो-

"पुरुष को महान मानती है

पुरुष के बिना जीवन बेकार मानती है

मर्द को औरत के मन का लगाम मानती है

अपना सब कुछ उसी का उधार मानती है रमिया

रमिया और भी बहुत कुछ मानती है

लेकिन

अपने भीतर घुसे पुरुष को नहीं पहचानती है।"[28]

रमिया वही सोचती और देखती है जो पुरुषवादी समाज उसे समझा या फिर दिखा रहा है। रमिया इस बात को भी नहीं जानती कि शहर हो या फिर गांव कहीं भी लड़कियां अपनी मर्जी से नंगी नहीं होती। पुरुष उन्हें नंगा करते हैं या फिर पेट उन्हें ऐसा करने के लिए मजबूर करता है। विज्ञापन की चकाचौंध भरी इस दुनिया में सामान बेचने के लिए उन्हें सामान के रूप में, एक वस्तु के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है। इस बाजारवाद से अलग कवि का मानना है कि स्त्री न तो बिस्तर होती है और ना ही नुमाइश की कोई चीज, जिनकी कोई मर्जी ना हो। परंतु आज बाजारवादी, उपभोक्तावादी संस्कृति के लोक जीवन में स्त्रियां नुमाइश की वस्तु होती जा रही है। इस बाजारवादी संस्कृति में उनकी इच्छाओं का कोई मूल्य नहीं है।

कवि जितेन्द्र कहते हैं आंखों के जल तथा समुद्र के पानी दोनों में होता है नमक "पर शायद ही कभी किसी ने याद किया हो/दोनों को साथ साथ नमक के लिए।"[29] समुद्र अपने खारेपन को नहीं छिपा पाता किन्तु स्त्रीयां आदिकाल से पी रही है अपना खारापन। वे आंखों के नमक को चेहरे के नमक में तब्दील कर रही है। "और पुरुष चमत्कृत है खुश है/कि यह रूप लावण्य उसके लिए है।"[30] कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव प्रश्न करते हैं कि यह किस से पूछा जाए कि स्त्री की आंखों के जल में कितना नमक है? ऐसा पुरुष तो बताने से ही रहा जो स्त्री को स्त्री में बदलकर

प्रेम नहीं करता। उस पुरुष के लिए तो स्त्री मात्र एक देह है,एक वस्तु है और कुछ नहीं। वास्तव में यह-

"समुद्र का पानी नहीं

जिस से छान लिया नमक

यह पीड़ित खदबदाती आत्मा का जल है

इसमें चाहे जो हो नमक का अनुपात वह अनमोल है

और मुहावरें में कहे तो इस नमक को

अपना सुख समझता पुरुष पूरा नमक हराम है।"[31]

अंत में कवि से नहीं रहा जाता और वह पुरुष को नमक हराम कह ही देते है। सिर्फ अपना ही सुख सोचने वाला पुरुष नमक हराम ही होता है।

कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव अपनी एक कविता 'पुकार' में हमारे लोक जीवन के उन पिताओं को आवाज लगाते हैं। जो अपनी बेटियों की इच्छा जाने बिना उन्हें किसी भी अनजान खूटे से बांध देते हैं। माता-पिता अपनी बेटियों के नाम रखते हैं- सुभागी, रानी, सोनी। किन्तु उनका जीवन इन नामों से विपरीत दिशा में चलता है-

"नाम के साथ जुड़े मां-बाप के सपने

कभी भहराकर गिर जाते हैं धरती पर

मिट्टी की दीवारो जैसे

कभी उड़ जाते हैं छप्पर की तरह

जीवन की आंधी में

कभी मेहरा जाते हैं

बिस्कुट की तरह।"[32]

इस कविता में एक लड़की सुभागी का जीवन भी बिस्कुट की तरह मेहरा गया है। सुभागी के सपनों की दीवार भहराकर गिर गई है। उसके सर से छप्पर उड़ गया है। 29 की उम्र में तीन-तीन बच्चों को गोद में लिए वह दुनिया और जीवन के चौराहे पर खड़ी है। सुभागी के पिता ने उसकी शादी एक ऐसे लड़के से कर दी है जो दिन-रात दारू ढकोसता हैं। एक दिन दारू ने ढकोस लिया उसे। आज सुभागी और उसके बच्चों को देखने वाला कोई नहीं है। वह किसी जगह पर मात्र ₹700 में मजदूरी करती है। ऐसे महंगाई के कठिन समय में मात्र ₹700 में चार-चार लोगों को खिलाना बड़ा कठिन काम है। घर का गुजारा करना बड़ा मुश्किल है। इस कविता में एक बात ध्यान देने योग्य है कि शायद सुभागी पढ़ी-लिखी भी नहीं है। अगर वह पढ़ी-लिखी होती तो ₹700 की मजदूरी नहीं करती।

मनुष्य अक्सर गलतियां करने के बाद उसे ईश्वर की मर्जी के ऊपर थोप देते हैं। नसीब और भाग्य का लिखा मान लेते हैं। "लगाते हैं एक ही टेक, आखिर कौन जीत पाया है विधना से।"[33] मनुष्य के इस बहाने के खिलाफ कवि का यह मानना है कि-"हम विधना की ओट लेकर/चुनना चाहते हैं एक आसान रास्ता।"[34] और यह आसान रास्ता हमें पहुंचाता है दुख के किनारे। इसी कारण कवि पिताओ को आवाज लगाते हुए कहते हैं कि-

"पिताओं, उठो कि बिटियां पुकार रही है

उन्हें मत छोड़ो विधना की मर्जी पर

देखो उनकी भी मर्जी

उनको मत परोसो जीवन भर की लाचारी।"[35]

सिर्फ इतना ही नहीं कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव आगे कहते हैं कि-

"उन्हें हंसने दो उनके हिस्से की हंसी

उड़ने दो उनके हिस्से की उड़ान

तुम्हारी गलतीयो ने, लहूलुहान कर दिया है उनका जीवन"[36]

कवि यह नहीं चाहते कि उन लड़कियों का जीवन लहूलुहान हो जाए। कवि की इच्छा है कि उनका अंचरा फूलों से हमेशा भरा रहे। बेटियों के विवाह को लेकर पिताओ को किसी भी प्रकार की जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए।

कवि जितेन्द्र जब भी किसी विवाहित बेटी को खुश देखते हैं तो उनके 'रक्त में खुशी' की लहर अचानक से दौड़ जाती है। इस खुशी के कारण कवि को कड़वे नीम की पत्तियां भी कड़वी नहीं लगती। कवि को यह जानकर प्रसन्नता होती है की उसका पति नीरा पुरुष नहीं परंतु एक सहयोगी है, एक अच्छे मित्र जैसा है मित्रवत है। यह सब देख सुनकर कवि खुद से कहता है-"चलो खुश है एक बेटी किसी की/और भी होगी धीरे-धीरे।"[37]

कवि इस बात को अच्छे से जानते हैं कि हमारे समय कि-"लड़कियां कविता बनना नहीं चाहती"[38] वह स्वतंत्रता चाह रही है, घर में भी और कविता में भी। यह अच्छी बात है कि कवि के घर तथा कविता दोनों स्थानों पर लड़कियां मुफ्त है और स्वतंत्र भी है। कवि इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि लड़कियां सजावट का सामान नहीं है, कोई वस्तु नहीं है, जिससे घर या फिर कविताएं सजाई जाए। लड़कियां किसी भी प्रकार का बोझ भी नहीं है। जीने उतारने के लिए किसी नदी के घाट लगा दिया जाए। लड़कियों को अपनी इच्छा से जीने का पूरा हक है। लड़कियों को अपने जीवन का फैसला खुद लेना ही चाहिए। वे सदियों से पहरेवारें घरों से मुक्त हो सुकून का जीवन जीना चाहती है। वह लड़कियां चाहती है कि-

"देर से घर लौटने पर

पिता या पति की आंखों में

संदेह नहीं, बस प्रेम देखें।"[39]

वह सिर्फ कहावते और मुहावरे में नहीं बल्कि जीवन में देखना चाहती है, अपनी आंखों से कि 'बिन घरनी घर भूत का डेरा' वह कहावत से बाहर आना चाहती हैं। आज आधुनिक लोक जीवन में और स्त्री विमर्श के केंद्र में सबसे बड़ा प्रश्न स्त्री मुक्ति का ही है। हर तरफ और हर तरह से मुक्ति। कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव लड़कियों के इन स्वच्छंद विचारों का आगे बढ़कर स्वागत करते हैं।

कवि की यह इच्छा हैं कि दुनिया में अस्तित्व की इस लड़ाई में लड़कियां घूरती हुई आंखों को अस्तित्वहीन कर दें। लड़कियां अपनी हंसी को धूप बना दे और अपने दुपट्टे में हवा को रोक ले। वे किसी की परवाह ना करें। अपना जीवन अपनी इच्छाओं के अनुसार जीए। 'सपनों में परी की तरह' कविता में लड़कियां गोरखपुर, अयोध्या, लखनऊ और ना जाने कहां-कहां घुमती हैं। इस कविता में लड़कियां अपनी मर्जी से फिल्में देखती है, सामान खरीदती है तथा सरयू नदी में नहाती भी है। वे लड़कियां इस बात की चिंता नहीं करती कि लोग उनके बारे में क्या सोचते हैं या फिर क्या सोचेंगे?

कवि जितेन्द्र 'शहर' नामक कविता के माध्यम से एक ऐसे समाज का सपना देखते हैं। जहां लड़कियां अपनी शर्तों पर ही जीवन जीती है। जहां कोई राजा ना हो, कोई प्रजा ना हो। सब एक दूसरे से प्रेम करते हो। कवि की आंखों में जिस 'शहर' का सपना है-

"उस शहर में कोई किसी का राजा नहीं

कोई किसी की प्रजा नहीं

कोई किसी के अधिकार में नहीं रहता

कोई किसी पर अत्याचार नहीं करता।"[40]

'सोनचिरई' कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव की बहुत चर्चित कविताओं में से एक है। इस कविता की रचना 1996 में हुई। परंतु पहली बार यह कविता 1998 में 'पहल-59' पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। यह कविता भोजपुरी प्रदेश की एक लोककथा को आधार बनाकर लिखा गया है। जिसे लोकगीत भी कहते हैं। यह लोकगीत बच्चों के जन्म के अवसर पर स्त्रियों द्वारा गाया जाता है। इस गीत को लोक में 'सोहर' कहा जाता है। 'सोनचिरई' की शुरुआत लोककथा की तरह होती है-

"बहुत पुरानी कथा है

एक भरे पूरे घर में

एक लड़की थी सोनचिरई"।[41]

बचपन में दादा-दादी और नाना-नानी के द्वारा सुनाई कई कथाओं की शुरुआत भी कुछ इसी तरह से होती थी जैसे की 'बहुत पहले की बात है/एक गांव में/एक ब्राह्मण रहता था'। कहने का मतलब है कि कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव के हाथों में आकर लोककथा का जो मूलभाव और मूल स्वर नहीं बदलता। जितेन्द्र की एक बड़ी विशेषता है कि दिल्ली जैसे शहर में रहने के बाद भी उनसे उनके मुल्य और संस्कृति नहीं भूली जाती। वास्तव में यह वह स्थान है, जहां से खड़े रहकर जितेन्द्र श्रीवास्तव घटनाओं तथा चीजों को देखते हैं। कभी यह समझना बहुत ही कठिन हो जाता है कि लोक कवि के भीतर गहरे रूप में है या फिर कवि लोग के भीतर। कवि अपने लोगों से हाथ मिलाने की जगह गले लगाकर 'धधाकर' मिलते हैं तथा समाचार की जगह हालचाल पूछते हैं। कवि जितेन्द्र की कविता को पढ़ना अपने लोक से गुजरना और मिलना है।

आज से कई वर्षों पहले लोककथा और लोकगीतों के माध्यम से स्त्री की पीड़ा और उसके बांझपन के दर्द को बखूबी अभिव्यक्त किया गया है। सिर्फ जरूरत है ऐसी लोककथाओ और लोकगीतों की खोज करने की। एक स्त्री दुनिया की कोई भी पीड़ा तथा दर्द को बर्दाश्त कर सकती हैं, सिवाय 'बांझपन' के। अपने ही घर-परिवार और लोगों की चुभती बातें तथा उनका निर्दयी व्यवहार उस स्त्री को अंदर से तोड़ देता है। घर-परिवार तथा समाज के निष्ठुर व्यवहार और स्त्री के दुख को लोकगीतों तथा लोककथाओं में बहुत ही बारीकी से दिखाया गया है।

सोहर में तथा कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविता 'सोनचिरई' में स्त्री का दर्द, पीड़ा और व्यथा फूट पड़ी है। पति द्वारा घर से निकालने के बाद वह जंगल में भटकती है। वह इस दुख से बाहर निकलने के लिए जीना नहीं मरना चाहती है। परंतु समस्या यह है कि उसे मौत भी नसीब नहीं होती। जंगल की बाघिन, नागिन और धरती मां उसे खाने, डसने तथा अपनाने से मना कर देते है। सोनचिरई का जन्म और विवाह एक अच्छे परिवार में हुआ था। जो काफी संपन्न था। परंतु मुसीबत में उसे ना तो ससुराल वालों ने, ना ही मायकेवालों ने अपनाया। यहां तक कि उसकी अपनी मां ने भी सोनचिरई को अपने घर में चिरौरी जितनी जगा न दी। सोनचिरई की मां कहती है कि -

"और सुनो बुरा न मानना बेटी

जो तुम्हारी परछाई पड़ेगी

तो मेरी बहू बांझ हो जाएगी"।[42]

कविता की इस पंक्ति से यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस दुनिया में स्त्री का अपना कोई घर नहीं, कोई ठिकाना भी नहीं होता। जहां वह मुसीबत में सुकून के साथ रह सके। उसे मायके या फिर ससुराल के ऊपर ही पूरा जीवन निर्भर रहना पड़ता है। एक स्त्री का पूरा जीवन पिता, भाई और पति तथा बेटे के सहारे ही व्यतीत करना होता है। जब वे भी अपनाने से इंकार कर दे तब? तब तो उस

स्त्री के पास एक ही रास्ता बचता है और वह है मौत का। उस निष्ठुर और कठोर समाज में एक बांझ स्त्री के लिए थोड़ी सी भी संवेदना और जगह नहीं है।

'सोनचिरई' कविता धरती मां से निवेदन तक भोजपुरी लोकगीत पर ही आधारित है। उसके बाद की कविता कवि की अपनी सोच है। किन्तु कवि द्वारा लिखी गई कविता का आधा अंश कहीं से भी यह प्रसंग अतिरिक्त नहीं लगता। कविता के रस में कहीं से भी बाधा उपस्थित नहीं होती, किन्तु लगता है इस अधूरी कविता को या फिर यूं कहें एक अधूरी स्त्री को कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव यह कविता लिखकर पूर्ण बनाते हैं। इस भोजपुरी सोहर को सुनने के बाद किसी के भी मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक बात है कि उसके बाद क्या हुआ होगा? वह कहां गई होगी? आदि अनेक प्रकार की जिज्ञासाएं उत्पन्न होती है और होनी भी चाहिए। एक भावुक और संवेदनशील मनुष्य के मन में और हृदय में ऐसे प्रश्न उठना स्वाभाविक बात है। सोहर सुनने के बाद भी कवि के मन में यह प्रश्न उठे होंगे और उसके जवाब की खोज में वह यहां-वहां भटका भी होगा। अंत में कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि-

"स्त्रियां कभी बांझ नहीं होती

वे रचती है

वे रचती है तभी हम-आप होते हैं

तभी दुनिया होती है

रचने का साहस पुरुष में नहीं होता

वह होती है तभी पुरुष

पुरुष होते हैं।"[43]

और रचने की क्षमता एक स्त्री यानी इस कविता में सोनचिरई में थी। तभी तो जब वह मरी तो-

"आंसुओं से जार-जार उसके आठ बेटों ने

उसकी अर्थी को कंधा दिया।"[44]

रचने का साहस उस पहले राजकुमार में नहीं था। कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव इस प्रसंग के माध्यम से यहां बताने की कोशिश करते हैं कि सोनचिरई नहीं, परंतु वह राजकुमार बंजर था। उस राजकुमार के अंदर इतनी शक्ति और क्षमता ही नहीं थी कि वह नए बीज को उगा सकें।

हम सब इस बात को अच्छी तरह से जानते हैं कि कवि जितेन्द्र उम्मीद के कवि है। लोककथाओं और लोकगीतों का अंत निराशा और ना उम्मीद में होता है। परंतु कवि की कविता का अंत उम्मीद से होता है। कविता में दो बातें अति महत्वपूर्ण है। प्रथम बात, दुनिया के सभी पुरुष निष्ठुर तथा निर्दयी नहीं होते। यह सच है कि सोनचिरई को घर छोड़ने के लिए उसके पति ने ही कहा था। परंतु सच यह भी है कि हर तरफ से निराश और हताश सोनचिरई को एक सज्जन राजकुमार ही सहारा देता है। पहला कड़वे वचनों के साथ घर छोड़ने को कहता है। तो दूसरा राजकुमार उसको समझते हुए साथ चलने का आग्रह करता है। दूसरा युवक सारी सच्चाई जानने के बाद उसे अपने साथ चलने को कहता है। यही तो सच्चा प्रेम है। सोनचिरई दूसरे राजकुमार को हर रूप तथा हर परिस्थिति में उसे स्वीकार है। दूसरे राजकुमार को सोनचिरई की सुंदर काया से प्रेम नहीं किन्तु उसकी आत्मा से।

कवि जितेन्द्र बड़ी ही सूझ-बूझ से शब्दों का चयन करते हैं। कवि एक-एक शब्द के प्रति सतर्क तथा सचेत है। सोनचिरई कविता में एक स्त्री की पीड़ा को व्यक्त करने के लिए कवि ने जिस भाषा का प्रयोग किया है वह कितनी स्वस्थ, सहज

और साफ-सुथरी भाषा है। वास्तविकता तो यह है कि स्वाभाविक और सहज, सरल भाषा में ही ऊंची और सच्ची अभिव्यक्ति हो सकती है।

लोक जीवन की विविधता और व्यापक विस्तार काव्य की विशेषता का एक महत्वपूर्ण पक्ष होता है। किन्तु आज जीवन की भाग दौड़ में लोक जीवन भी काव्य से निरंतर कम होता जा रहा है। अब गांव भी कस्बों में बदल रहे हैं। मनुष्य का पलायन शहर की ओर हो रहा है। इसी कारण से स्थानीयता का लोप हो रहा है। लगभग उसी अनुपात में काव्य में भी लोक जीवन का लोप हो रहा है। परंतु जितेन्द्र के काव्य में लोक जीवन की विविध छवियां मौजूद हैं। जिसके अंतर्गत मेले, उत्सव, त्योहार, खान-पान, रहन-सहन, वेशभूषा, संस्कार और रीति-रिवाज आदि का चित्रण है। इन लोक जीवन के चित्रों से कवि गहराई से जुडे हुए है। आलोचक मृत्युंजय पाण्डेय के अनुसार-"जितेन्द्र श्रीवास्तव अपनी पीढ़ी में सबसे अधिक लोकधर्मी कवि हैं। उनकी कविताओं में गांव,गांव के लोग वहां की वस्तुएं, वहां की समस्याएं सहज और स्वाभाविक रूप में आती है। इनके यहां गांव किसी योजना के तहत नहीं बल्कि अनायास आता है। लोग उनकी धमनियों में बहता है।"[45] कवि के काव्य को पढ़ने के बाद कहां जा सकता है कि अभी भी यह लोक पूरी तरह विस्मृत नहीं हुआ है। लोक जीवन में मनुष्य जाति के लिए अभी बहुत जगह है। शहर एवं गांव के परिवेश के मध्य बचे हुए अंतर को भी जितेन्द्र ने अपनी कविताओं में व्यक्त किया है। उनके काव्य में लोकजीवन के चित्रण में परिवेश मानों स्वयं बोल उठा हो। उन्होंने उस स्थिति का वर्णन किया है जब कोई अपने मूल परिवेश से दूर हो जाता है तथा लंबे समय बाद उसी परिवेश के संपर्क में आने पर क्या महसूस होता है? "आज ज्योंही मैं पहुंचा/गांव के गोईंडो वाले खेत में/उसने नजर उठा कर देखा पलभर/फिर पूछा/कहो बाबू, कहां से आए हो/कुछ-कुछ शहरी जान पड़ते हो?"[46]

कवि ने जिस लोक जीवन तथा परिवेश का चित्रण किया है वह महज स्थानीयता से युक्त नहीं है। जिस भाव और संवेदना के साथ लोक जीवन का चित्रण किया

है वह पूर्ण भारतीय लोकजीवन का परिचायक बन जाता है। गांव का वातावरण जितना ज्यादा शांत और स्वस्थ प्रतीत होता है आंतरिक रुप से उतना ही जटिल होता है। गांव में प्रत्येक व्यक्ति के अपने सुख और दुख होते हैं। जाति, वर्ग, वर्ण, गरीबी और अशिक्षा आदि सुविधाओं के अभावों से गांव का परिवेश त्रस्त रहा है। जितेन्द्र ने तमाम उलझनों तथा सामाजिक क्रियाओं से उपजी समस्याओं का काव्य में सहजता से चित्रण किया है। ऐसे ही एक गांव का चित्रण भारत देश के समूचे ग्रामीण परिवेश के यथार्थ को पाठक के सम्मुख रख देता है। 'अंधेरा' शीर्षक कविता यहां दृष्टिगत होती है-"वहां पसरा है मौत के बाद का सन्नाटा/हवा की साय-साय में/घुला है भय/झींगुरो की आवाज/विलीन हो रही है/विधवाओं के विलाप में/झगड़ा महज एक नाली का था/जिसके आगे बेमोल हो गया जीवन/जिस नाली से बहता है गंदा पानी/उसी में बहा गरम खून/उधर गांव के भाईचारे की बातें/दूर कहीं बहुत दूर/सो रही थी शहरी बाबूओ की किताबों में/और एक समूचा गांव काप रहा था थर थर थर/मित्रों,यह किसी एक गांव का सच नहीं/यह हमारे समय के/लगभग हर गांव की हकीकत है/अब गांवो में भी/आने-दाने की लड़ाई है/इंच-इंच के लिए खून खराबा है/रोशनी के बीच शहरों में/जितना अधिक है रिश्तो का अंधेरा/उससे कम नहीं अब/अंधेरे गांवो में मन का अंधेरा।"[47]

प्रत्येक देश के समाज तथा संस्कृति के स्थायी जीवन मूल्य एवं संस्कार होते हैं। हर युग में मनुष्य के स्वभाव में बदलाव आता ही है। किन्तु यह स्थायी मूल्य एवं संस्कार ही उसे एक सूत्र में बांध कर रखते हैं और जीवंता प्रदान करते हैं। देश के लोक जीवन की राष्ट्र निर्माण में एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है। किसी भी देश का मूल चरित्र लोकजीवन से ही पहचाना जा सकता है। परंतु यह सच है कि आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता, बाजारवाद और आर्थिक विकास के अतिशय दबाव के कारण से लोकजीवन और उसका परिवेश निरंतर संकुचित हो रहा है और शहर विस्तारित हो रहे हैं। यह विस्तार गांवो को भी अपनी चपेट में ले रहा हैं। अनेक गांव प्राइवेट प्रॉपर्टी और फार्म हाउस में बदल गए हैं। इसके बावजूद

इस संवेदना के अंत के इस दौर में यदि कहीं मानवीयता का स्रोत बचा हुआ है तो वह अपने लोक जीवन के अंतर्गत ही बचा है। इस दृष्टि से जितेन्द्र जी द्वारा रचित 'घर' शीर्षक कविता अत्यंत मार्मिक है। अपनेपन की भावना, रिश्तो की गरिमा और मनुष्यता के विराट संकल्प को यहां देखा जा सकता है। इस कविता में जितेन्द्र श्रीवास्तव की चिंता न केवल मनुष्य जीवन को लेकर है किन्तु मानवेतर प्राणियों के प्रति भी उनकी भावसंवेदना अभिव्यक्त हुई है। "एक चिड़िया थी/साथ कुछ बच्चे/वह ढूंढ रही थी अपना घोंसला/जिसे उड़ा ले गई कल शाम आई आंधी/एक स्त्री थी/साथ कुछ बच्चे/वह ढूंढ रही थी अपना गांव/ताकि गांव में जाकर पास सके अपना घर/पर गांव घर बहाकर ले गई इस साल आई बाढ़/एक आदमी आया मुंबई से/ढूंढने भाई की लाश/जो दबकर मर गया मालपा में/पहाड़ के नीचे मानसरोवर की यात्रा में/भाई चाहता था भाई की लाश/ताकि अर्थी उठ सके घर से/मित्रों,घर इंतजार करता है/अपने भीतर रचे बचे लोगों का/जैसे हर किसी को इंतजार होता है एक घर का/आपको किसी से पूछने की जरूरत नहीं/बस आंखों में झांक कर देखिए/हर आंख में होता है एक भरा पूरा साबूत घर/जिसको नहीं मिटा सकती कोई आंधी, कोई बाढ़/कोई और विपदा/हर दुर्घटना के बाद भी बचा रहता है घर/आंखों में,आत्मा में"[48]

भारतीय परिवेश में प्रत्येक प्रदेश और समाज के अपने लोकगीत होते हैं। इन लोकगीतों के आधार पर हम उस प्रदेश या समाज के इतिहास को जान सकते हैं। सांस्कृतिक जीवन और मूल्य की पड़ताल लोकगीतों के माध्यम से की जा सकती है। कवि जितेन्द्र ने अपने समय के और समाज में प्रचलित लोकगीतों को पर्याप्त महत्व दिया है। महत्वपूर्ण लोकगीतों को अपने काव्य में चित्रण किया है-"अपने बचपन में मैं अक्सर सुनता था एक लोकगीत/जिसमें संदेश भेजती है एक स्त्री/अपने बिदेश गए पति को/बाद में मैंने जाना/कोलकाता विकट बिदेश है/हमारे लोकगीतों में/इन लोकगीतों के रचे जाने के सदियों बाद/अब भी कुछ लोग उतरते हैं/मुंबई, पंजाब, आसाम की ओर/आने वाली गाड़ियों से/और लेते हुए विदा कहते हैं

सहयात्रीओ से/लो भाइयों हम भी पहुंच गए/अपनी मुलुक की मिट्टी पानी में/अपनी बोली बानी में/ये मजदूर है/जो रोजी-रोटी की खोज में/निकल जाते हैं सुदूर प्रांतों में/उन जगहों पर करते हुए काम/ये सोचते हैं अपने देश के बारे में/जहां इनकी स्त्रियां घरों में जूझती हुई जिंदगी से/राह अगोरती है इनकी/वे जांतो में पिसती हुई गेहूं/गाती है इनके 'बिदेस' से लौटने का गीत/और बार-बार स्वयं लौटती है/स्मृतिओ से जीवन के दालान में।"[49] कवि की मान्यता है कि जहां भी श्रम की संस्कृति है वहा लोक भी उपस्थित है। वहा लोक संस्कृति मौजूद है। फिर चाहे शहर की ही बात क्यों ना हो। कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव के समूचे काव्य में लोक संस्कृति और अस्मिता का सजीव चित्रण दिखता है। यह चित्रण मौलिकता युक्त है-"यदि कोई देखना चाहे/हमारे लोक का चेहरा/वह देख सकता है/श्रम की आंच में तपे इनके चेहरे/इनके चेहरों पर/अपनी सांवली आभा के साथ/दीप-दीपता है हमारा लोक।"[50]

कवि जितेन्द्र के काव्य में लोकजीवन के प्रतीक तथा बिंब सजीव और उत्कृष्ट है। चित्रात्मक शैली का समावेश कवि ने बहुलता से किया है। उनके काव्य में लोक जीवन और स्त्री जीवन के तमाम चित्र उभर कर आते हैं। महेश पुनेठा के अनुसार- "जितेन्द्र उन युवा कवियों में से है जो अपनी बात को कहने के लिए जनपद की प्रकृति, जनजीवन और उसके संघर्ष को आधार बनाते हैं और लोककथाओं लोकगीतों व लोकस्मृतियों का सुंदर और प्रभावशाली उपयोग करते हैं। भले ही उन्होंने शहरी और महानगरी जीवन को लेकर भी अनेक कविताएं लिखी है पर उनका मन जनपदों में ही अधिक रमता है।"[51] कवि की लोकजीवन से जुड़ी कविताओं से गुर्जरना लोक के सजीव चित्रों को देखते हुए आगे बढ़ना है

"सवेरे सवेरे जुटा लेती है वे

गाय का गोबर

और मिलकर बना लेती है गोधन

वे गाती है गीत

अपने भाइयों के लिए

और प्रार्थना करती है उनके

लंबे और सुखी जीवन की

वे निर्जला रहती हैं

तिजहर तक

सीझती हैं व्रत की आंच में"[52]

कवि जितेन्द्र के यहां लोक जीवन के चित्रण के पीछे गहरी रागात्मकता की वृत्ति है। प्रत्येक विषय के चित्रण का लोकजीवन की गहराई से जुड़ाव है। यह लोक तत्व और स्त्री जीवन कवि के काव्य में सर्वत्र उपस्थित है। लोक जीवन से जुड़ी वस्तुओं के माध्यम से कवि को बार-बार लोक का स्मरण हो जाता है। यही कवि के लोक जीवन में प्रगाढ़ प्रेम और आस्था का संकेत है। कवि के यहां लोक का विस्तार गांव से लेकर शहर तक मिलता है। मूल रूप में शहर भी छोटे-छोटे गांव के समूह से ही निर्मित हुआ है। शहर में भी लोक की उपस्थिति उनके काव्य में देख सकते हैं।'दिल्ली में बेना' शीर्षक कविता लोक और स्त्री जीवन से संबंधित वस्तुओं से जुड़ाव की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण कविता है-"कल रात भर नहीं आई बिजली/पल-पल काटते किसी तरह बीती रात/और सुबह चाय पीते हुए कहा पत्नी ने/अच्छा ही किया जो और सामानों के साथ/ले आये बेना और लालटेन भी दिल्ली/वरना जितनी दे पाए उतनी भी तसल्ली/कहां से लाते बेटियों के लिए!"[53]

कवि जितेन्द्र के कवि कर्म के सबल पक्ष में लोक पक्ष तथा स्त्री जीवन भारतीय जनजीवन को दर्शाता है। निसंदेह लोक पक्ष और स्त्री जीवन व्यापक विषय है और हिंदी कविता का प्राण भी। इस प्राण तत्व ने कभी हिंदी कविता को निष्प्राण नहीं होने दिया। समकालीन हिंदी कविता लोकजीवन और स्त्री जीवन से प्राण पाती है। कवि के यह विषय, भाव तथा प्रस्तुतीकरण की शैली का कोई भी अभाव

नहीं है। लोकजीवन और स्त्री जीवन के विविध चित्र उनके काव्य को एक नई ऊंचाई पर ले गए हैं। लोक जीवन से संबंधित कहावतो, लोकोक्तियों, मुहावरों, संस्कारों, उत्सवो और रीति-रिवाजों आदि का समुचित समावेश जितेन्द्र के काव्य में मिलता है। 'लोक' शब्द केवल गंवारूपन का पर्याय नहीं है। 'लोक' शब्द मानवीयता का विशाल समुद्र है। जिस पर जितना भी अध्ययन किया जाए कम ही होगा। अज्ञेय, नागार्जुन और केदारनाथ सिंह जैसे कवियों की भांति कवि के काव्य में 'लोक' पक्ष और 'स्त्री जीवन' अपनी अलग मौलिकता से युक्त है। सिंदूर, पुकार, किराएदार की तरह, यह स्त्री जिसे देख रहे हैं, बेल, नदी के किनारे से:तीन दृश्यचित्र, बहुत दिन हुए, लोक का चेहरा आदि कविताओं में लोकजीवन और स्त्री जीवन अपनी विविधताओ के साथ उपस्थित है। अरुण होता कवि के काव्य में अंतर्निहित लोक जीवन के संदर्भ में कहते हैं कि "जितेन्द्र की कविताओं में लोक जीवन का विविधता के साथ चित्रण मिलता है। लोक के विभिन्न रूपों की मौजूदगी है। कवि की देशजता उसकी विशेषता की पहचान है। कवि का लोक नैसर्गिक, अनायास और स्वेत:पूर्ण रूप से उभरा है। कृत्रिमता और सायासता से कोसों दूर है।"[54]

कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव के यहां लोग जीवन में स्त्री जीवन की अलग ही छवि मिलती है। उन्मुक्त अधिकार बोध और स्वतंत्रता के साथ। कवि जितेन्द्र ने सोनचिरई, रामदुलारी, परवीन बॉबी, रमिया, संजना तिवारी, राय प्रवीण, आभा चतुर्वेदी जैसे अनेक स्त्री पात्र गढ़े है। इन सभी पात्रों के माध्यम से कवि ने स्त्री जीवन और अस्मिता के विविध आयामों को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। स्त्री जीवन के संबंध में सोनचिरई, घास गढ़ती औरतें, कस्बे में प्रेमिका, रमिया, उम्र के साथ बदलती दुनिया, देखी सुनी अनकही बात, नानी, स्त्रियां कहीं भी बचा लेती है पुरुषों को, जिसकी कुंडली भी मिल जाए दादी से, पानी, तुम जब चाहो, जनवरी की एक सुबह उठी तीन स्त्रियां, सपने में एक लड़की: सोनमछली, तुम कहां हो सुलेखा, लड़कियां, राय प्रवीण, यह स्त्री जिसे देख रहे हैं आप, मैं इक

चिड़िया हूं पापा, जितनी हंसी तुम्हारे होठों पर, बिल्कुल तुम्हारी तरह, ओ मेरी बेटियों याद रखना, विधाता स्त्री होता, किराएदार की तरह, उड़ती है गौरैयों की तरह, बेटियां, सपनों में परी की तरह, तुम देखना, कस्बे में प्रेमीका, फिर भी मन, रक्त में खुशी, नमक हराम, पुकार, नया विहान, एक नई स्त्री का आत्मकथ्य, मां का सुख, धीरे से कहती थी नानी जैसी महत्वपूर्ण कविताएं कवि ने स्त्री जीवन के संदर्भ में रची है। समकालीन परिवेश में यह कविताएं पाठक वर्ग द्वारा बहुत सहारी गई है। विवेचक और आलोचकों द्वारा इन कविताओं का विविध संदर्भों में मूल्यांकन किया गया है। कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव द्वारा रचे गए यह पात्रों की स्वतंत्र छवि को स्वीकारने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इन पात्रों को स्वीकारने में यदि कहीं कोई आपत्ति है तो इसका सीधा सा अर्थ है कि स्त्री को पुरुष के समान नहीं समझना और पितृसत्ता का समर्थक होना है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि पितृसत्तात्मक समाज की मानसिकता का बड़ा लंबा इतिहास रहा है जिसके अंतर्गत स्त्री स्वतंत्रता से युक्त छवि को निरंतर नकारा गया है। कवि ने अपनी कविताओं के अंतर्गत समाज में स्त्री संदर्भ में व्याप्त स्त्री विरोधी मानसिकता को लेकर स्पष्ट विरोध किया है। इसीलिए कवि अपनी कविता में कहते हैं- "औरत खूबसूरत पहाड़ नहीं होती/जिनकी कोई मर्जी न हो/औरतें बिस्तर भी नहीं होती/न ही नुमाइश चीज/हक मांग रहे हैं लोग/देशद्रोही नहीं होते/आदमी को नकारकर/औरतों को लूटवाकर/गोलियां बर्षा कर/नहीं बचाया जा सकता देश/देश को बचाने के लिए प्यार चाहिए।"[55]

पुरुषवर्चस्व वाली मानसिकता की पहचान के बाद स्त्री अस्मिता की निर्मित प्रक्रिया आरंभ होती है। स्त्री अस्मिता के बोध के अभाव में स्त्री के लिए पुरुष को महान मानने के अलावा कोई विकल्प नहीं बचता। स्त्री के जीवन में विकल्प के अभाव में पितृसत्ता ने अपनी महानता के आलोक में स्त्री छवि को और उसकी गरिमा को प्रत्येक युग में जार-जार किया है। कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव विविध संदर्भों में स्त्री जीवन के अंतर्गत पुरुष वर्चस्व की दीर्घ इतिहास की पड़ताल करते हैं। कवि

व्यापक परिप्रेक्ष्य में स्त्री के समक्ष पुरुषों की महानता के यथार्थ को उजागर किया है। यह महत्वपूर्ण है क्योंकि इस दृष्टिकोण के अभाव में सदियों तक स्त्री शोषण की परंपरा चलती रही है। शिक्षा की चेतना और अधिकारों के विस्तार ने ही स्त्री को स्वतंत्रता का एहसास करवाया है।

भारतीय समाज जीवन की व्यवस्था और संरचना ही कुछ इस रूप में बनाई गई है जो निरंतर स्त्री विरोधी परिलक्षित होती है। भारत में नारी को एक तरफ पूज्य माना गया है। जबकि दूसरी तरफ पितृसत्ता के अधिन स्त्री जीवन को दुर्गम बनाने के लिए कोई मौका नहीं छोड़ा गया। स्त्री जीवन को खंडन-मंडन करने की डोर पुरुष ने अपने हाथों में ही रखी है। पुरुष ने जब जैसा चाहा स्त्री जीवन को उसी रूप में तोड़ मरोड़कर प्रस्तुत किया है। ना केवल भारतीय परिवेश में बल्कि वैश्विक परिवेश में भी इस स्थिति को देखा जा सकता है। हालांकि भारतीय समाज के परिवेश में यहां स्थिति और विकराल रूप में मिलती है। स्त्री जीवन से जुडी वास्तविकता को ध्यान में रखते हुए कवि जितेन्द्र ने भारतीय समाज व्यवस्था में स्त्री जीवन के समक्ष विकराल चुनौतियों पर व्यापक रूप में चिंतन तथा मनन किया है। कवि जितेन्द्र का यह दृष्टिकोण है की हम आधुनिक होने का कितना ही दंभ क्यों ना भरे। जब तक हम एकजुट नहीं होगे और आवाज उठाए बिना यह दीर्घकालीन तथा परंपरागत शोषण को अचानक से खत्म नहीं किया जा सकता। यहां दीर्घकालीन सामाजिक क्रूरता के इतिहास और वर्तमान को देखते हुए यह शंका अनुचित नहीं है। लोक जीवन में स्त्री शोषण का खात्मा करना आसान नहीं है। किन्तु स्त्री के सरोकारों को समझते हुए, उनको बराबरी का दर्जा देते हुए स्त्री सशक्तिकरण के पथ पर अग्रसर हुआ जा सकता है। यह जितने व्यापक धरातल पर संभव होगा। स्त्री-पुरूष के बीच की खाई को उतनी ही जल्दी कम की जा सकेगी-"सोचता हूं/जो डर अनादि काल से/रक्त मज्ज़ा विवेक में/वह कैसे निकलेगा/मीठी- मीठी बातों/और छोटे-छोटे स्वार्थों से"[56]

कवि जितेन्द्र ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से भारतीय समाज जीवन में आ रहे बदलावो को देखने का प्रयास किया है। वर्तमान काल में जीवन का कोई भी क्षेत्र बदलाव से अछूता नहीं रहा। स्त्री जीवन एक हद तक वर्तमान में बदलावो से लाभाविन्त हुआ है परंतु जिस मात्रा में लाभ मिलना चाहिए था वह नहीं मिला है। इसका प्रमाण है २१वीं सदी में भी स्त्री जीवन के संदर्भ में अत्याचारों का दायरा कम नहीं हुआ। जितेन्द्र श्रीवास्तव को भली-भांति जानते है कि स्त्री शोषण का रूप अवश्य बदल गया है किन्तु वह कम नहीं हुआ। 'उम्र के साथ बदलती दुनिया' कविता यहां सार्थक हो उठती है- "उम्र के साथ बदलती दुनिया/चकित करती है कभी/कभी/कचोटती है मां को/उसके चेहरे की झुर्रियों से/झलकता है आश्चर्य/टपकता है दुख/उसने एक स्त्री की नाक से/सुंधा है समय को/एक स्त्री के जीवन में पररखा है समाज को/वह जानती है कुछ भी असंभव नहीं/इस दुनिया में/अन्याय-अनाचार तो बिल्कुल भी नहीं/यह होता ही आया है यहां/अनादि काल से/पर दिन-दहाड़े शुरू हुआ है/अभी कुछ साल से"[57]

स्त्री शोषण का सबसे विकृत रूप है बेटी को मां के पेट में ही मार देना यानी कन्या भ्रूण हत्या का। २१वीं सदी में भी यह एक विकराल समस्या बनी हुई है हमारे समाज के लिए। आधुनिक और वैज्ञानिक युग में यह समस्या मनुष्य के मनुष्य होने पर प्रश्न उठाती है। अखिल भारतीय स्तर पर लिंगानुपात 943/1000 हैं। जो बहुत चिंताजनक है। सिक्किम-875, पंजाब- 874, हरियाणा-877, जम्मू और कश्मीर-883 आदि राज्य में स्त्री-पुरुष लिंगानुपात में विसंगतियों के दुष्परिणाम देखे जा सकते हैं। केंद्र शासित प्रदेशों की बात करें तो दमन और दीव 618, दादर और नगर हवेली-775, दिल्ली-866, चंडीगढ़-818 की भी स्थिति और भी खराब है। इसके विपरीत पांडिचेरी-1038 तथा केरल-1084 में शिक्षा तथा चेतना के प्रभाव से पुरुष की तुलना में स्त्री अनुपात ज्यादा अच्छा है। देश में सख्त कानून के बावजूद कन्या भ्रूण हत्या आज एक बड़ी चुनौती है हमारे सामने। इस विषय में सारा परिवेश स्त्री के विरूद्ध है। स्त्री भ्रूण हत्या के साथ-साथ स्त्री

की भावनाओं से पितृसत्ता खिलवाड़ करती है। इस क्रूरता को लेकर कवि मन का आहत होना स्वाभाविक है-

"पर क्या करूं

कहां से लाऊं

अपने भीतर एक स्त्री की आत्मा!

वह भी एक ऐसे समय में

जब बच्चियां मारी जा रही है कोख में ही।"[58]

स्त्री जीवन से संबंधित समस्याओं के मूल में स्त्री के अपने चिंतन का ही अभाव है। अपनी समस्याओं पर आखिर कितनी स्त्रियां चिंतन-मनन करती है ? स्त्री को पराया धन समझना यहां भी स्त्री की समस्याओं में इजाफा करती है। एक घर से दूसरे घर जाना। दिन-रात गृहस्थ जीवन में खपना। बच्चों की परवरिश करना, घरेलू हिंसा और प्रताड़ना सहना। इन तमाम चुनौतियों के कारण आसान नहीं है स्त्री जीवन। कवि ने इन समस्याओं को देखते हुए 'अब एक और घर' कविता के अंतर्गत स्त्री जीवन के संदर्भ में अपने भाव को अभिव्यक्त किया है-"इसी घर से विदा हुए पति अंतिम यात्रा के लिए/इसी घर में बेटे ने पाई जीवन की इच्छित ऊंचाई/इसी घर में बसा पोते का घर/इसी घर में जन्मे खेलें परपोते-परपोतियां/अब यही घर छूट रहा है/और अचानक न जाने कैसे/झिलमिला उठा है पिता का घर उनकी आंखों में/और यह कैसे देख रहे हैं पिता उदास-उदास/मां को संभालते समझाते हुए/और यह डोली उठ रही है पिता के घर से/छूट रहा है घर बाबुल का/और अब यह दिखाई दे रहा है पति का घर/जहां गुजरी तमाम जिंदगी/जहा जीवन जिया उन्होंने/और यह क्या!/वे देख रहे हैं अपने बेटे के घर में/अरे, इसी घर में जो छूट रहा है/वे झटकती है धीरे से माथा जैसे झटक रही हो अतीत/लौटती

है वर्तमान में/आंचल की कोर से पोछती है आंसू/देखती है आसपास/फिर स्वयं से बतियाती-सी धीरे से बुदबुदाती है/अब एक और घर/ हे ईश्वर।"[59]

स्त्री को उसके कर्म के आधार पर आंका गया है। परंतु पुरुषों के इच्छाओं और स्वार्थों को पूरा करने के क्रम में। स्त्री जीवन की स्वतंत्रता अधिकांश पुरुषों को बर्दाश्त नहीं है। जबकि घर के तमाम कार्य स्त्रियां ही संभालती है। अगर सारे कार्य का लेखा तैयार किया जाए तो स्त्री का ही पलड़ा भारी रहेगा पुरुषों के मुकाबले। समस्या यह है कि यह सब होते हुए भी स्त्री जीवन को निरंतर दोयम दर्जे पर रखने का प्रयास हो रहा है और वह आज भी जारी है। कवि जितेन्द्र द्वारा रचित 'जनवरी की एक सुबह उठी तीन स्त्रियां' शीर्षक कविता में स्त्री और पुरुष के जीवन में व्याप्त अंतर को समझाया गया है- "जनवरी की एक सुबह/लगभग साढ़े चार बजे उठी तीन स्त्रियां/आंखों में नींद और देह में थकान लिए/उन्हें तैयार करना था/अपने-अपने पति को ऑफिस के लिए/उनके पति जब उठे बिस्तरों से/देह तोड़ते हुए/आंख मलते हुए/वे तैयार थी चाय लेकर/बंध चुका था टिफिन/गरम हो चुका था नहाने का पानी/रखा जा चुका था तौलिया अपनी जगह पर/कपड़े तैयार थे इस्त्री करके/जूते में लग चुका था पॉलिश/और अब जो करना था पुरुषों को/वह समस्या थी देह की।"[60] भारतीय समाज का कोई भी क्षेत्र नहीं बचा जिससे संबंधित स्त्री जीवन के सरोकारों को कवि ने चित्रित ना किया हो। एक स्त्री को जीवन में अनेक चुनौतियां का सामना करना पड़ता है। स्त्रिया स्वयं को मुसीबत में धकेलकर पारिवारिक जिम्मेदारियों का निर्वाह करती रहती है।

वर्तमान समय में शिक्षित और चेतना संपन्न आधुनिक स्त्री ने पुरुष वर्चस्व को व्यापक स्तर पर चुनौती दी है। किन्तु आज के अनुरूप जीवन जीने की इच्छा से युक्त स्त्री भी पुरुष वर्चस्व का शिकार हो रही है। शिक्षा, विज्ञान, राजनीति, सिनेमा, तकनीक, मीडिया, खेल और कॉरपोरेट आदि क्षेत्रों में सफलता के मापदंड स्थापित करने वाली स्त्रियां भी पुरुषवादी मानसिकता का शिकार हुई है। प्रसिद्ध

अभिनेत्री परवीन बॉबी के माध्यम से कवि ने इस विडंबना को हमारे सामने प्रस्तुत किया है-"कल छपी थी एक अखबार में/महेश भट्ट की टिप्पणी/परवीन बॉबी के बारे में/कहना मुश्किल है/वह एक आत्मीय टिप्पणी थी/या महज रस्म अदायगी/या बस याद करना/पूर्व प्रेमिका को फिल्मी ढंग से/उस टिप्पणी को पढ़ने के बाद पूछा मैंने पत्नी से/तुम्हें कौन सी फिल्म याद है परवीन बॉबी की/जिसे तुम याद करना चाहोगी सिर्फ उसके लिए/मेरे सवाल पर कुछ क्षण चुप रही वह/फिर कहा उसने/प्रश्न एक फिल्म का नहीं/क्योंकि आज संभव है यदि/अपने बिंदासपन के साथ/ऐश्वर्या राय करीना कपूर रानी मुखर्जी/प्रियंका चोपड़ा और अन्य के साथ/नई नई अनुष्का शर्मा रूपहली दुनिया में/तो इसलिए कि पहले कर चुकी है संघर्ष/परवीन बॉबी और जीनत अमान जैसी अभिनेत्रियां/स्त्रीत्व के मानचित्र विस्तार के लिए/उन्होंने ठेंगा दिखा दिया था वर्जनाओ को/उन्हें परवाह नहीं थी किसी की/उन्होंने खुद को पररखा था/अपनी आत्मा के आईने में/वह सेंसर था उनका/परवीन बॉबी ने अस्वीकार कर दिया था/नैतिकता के बाहरी कोतवालो को/उसे पसंद था अपनी शर्तों का जीवन/उसकी बीमारी उपहार थी उसे/परंपरा, प्रेमियों और समाज की/जो लोग लालसा से देखते थे उसे/रुपहले पर्दे पर/वे घर पहुंचकर लगाम कसते थे/अपनी बहन बेटियों पर/परवीन बॉबी अट्ठाहास थी व्यंग की/उसके होने ने उजागर किया था/हमारे समाज का ढोंग/उसकी मौत एक त्रासदी थी/उसकी गुमनामी की तरह/लेकिन वह प्रत्याख्यान नहीं थी उसके स्वप्नों की/भारतीय स्त्रियों के मुक्ति संघर्ष में/याद किया जाना चाहिए परवीन बॉबी को/पूरी सम्मान से एक/शहीद की तरह/यहां कहते-कहते गला भरा गया था/पत्नी का चेहरा दुख से/लेकिन एक आभा भी थी वहां/मेरी चिरपरिचित आभा/जिसने कई बार रोशनी दी है मेरी आंखों को।"[61] एक पीढ़ी का संघर्ष आने वाली पीढ़ी का विस्तार करती है। इसी क्रम में परवीन बॉबी के संघर्षपूर्ण जीवन में सिनेमा में अगली पीढ़ी की अभिनेत्रियों को एक सशक्त आधार प्रदान किया।

आज आधुनिक युग में माननीय मूल्यों और संस्कारों का विघटन होना आज की सबसे बड़ी समस्या है। एक सचेतन कवि के लिए मानवता का विनाश देखना दुखदाई बन जाता है। कवि जहां भी विसंगतियां पाते हैं उनके विरुद्ध मानवीयता को बचाने का भरपूर प्रयास करते हैं। कवि के प्रयास के आधार पर कह सकते हैं कि छोटे-छोटे जीवन मूल्यों को विकटन से बचाया जा सकता है। इसी क्रम में कवि द्वारा रचित कविता 'संजना तिवारी' महज एक स्त्री नहीं किन्तु एक परंपरा के रूप में उपस्थित है जो आधुनिकता और भविष्य के बीच मानवता के हित में तथा साहित्य और संस्कृति के लिए बड़ा काम कर रही है। कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव ने कई महत्वपूर्ण स्त्री पात्रों के माध्यम से मानवीय मूल्य और उसके सहयोगी तत्वों को विस्तार देने का एक महत्वपूर्ण कार्य किया है-"संजना तिवारी महज एक स्त्री का नाम नहीं है/किताबे बेचना उनका खानदानी व्यवसाई नहीं है/वे किसी भी 'साहित्यिक' से अधिक जानती है/साहित्यिक पत्रिकाओं के बारे में/वे सुझाव भी देती है नए पाठकों को/कि उन्हें क्या जरूर पढ़ना चाहिए/संजना तिवारी महज एक नाम नहीं/तेजी से लुप्त हो रही एक प्रवृत्ति है/जिसका बचना बहुत जरूरी है।"[62]

कवि जितेन्द्र के काव्य जगत से गुजरने के बाद कहां जा सकता है कि कवि ने बड़ी ही सहजता और आसान भाषा में स्त्री के गहरे राजनीतिक और सामाजिक सरोकारों को पाठकों के सम्मुख रखा है। 'पत्नी पूछती है कुछ वैसा ही प्रश्न जो कभी पूछा था मां ने पिता से' शीर्षक कविता स्त्री जीवन और राजनीतिक सोच पर आधारित है। इस कविता में स्त्री की एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी में जागृत होती राजनीतिक चेतना को देखा जा सकता है- "ए जी, ये लोकतंत्र क्या होता है?/पूछा था मां ने पिताजी से.....उस संवाद के ढाई दशक बाद/अपनी पत्नी के इस सवाल पर/ए जी, ये बराबरी क्या होती है?"[63] हमारे देश की राजनीति जैसे विषय पर कवि जितेन्द्र की क्षण भर की चुप्पी के गहरे अर्थ है। इसका मुख्य कारण है की हमारा लोकतंत्र आज भी केवल कुछ मुट्ठी भर लोगों के लिए संजीवनी बना हुआ है जबकि साधारण लोगों के लिए एक स्वप्न है और एक

रहस्य सा है। हमारा लोकतंत्र समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व की भावना के ठीक विरुद्ध दिशा में अधिक अग्रसर दिखाई पड़ता है। देश की राजनीति में स्त्री का प्रतिनिधित्व कितना है? क्या आज की स्त्री महत्वपूर्ण पदों पर विराजमान है? अपनी संख्या के अनुरूप संसद,विधानसभा आदि में प्रतिनिधित्व मिलना बाकी है। ऐसे समय में लोकतंत्र की विकृति कवि जितेन्द्र के लिए चिंता का विषय बनी हुई है।

कवि जितेन्द्र ने 'रामदुलारी' जैसे पात्र के माध्यम से स्त्री जीवन को व्यापक धरातल पर अस्मिता से युक्त किया है और पितृसत्ता की चालों को आईना दिखाया है। रामदुलारी कविता में पितृसत्ता द्वारा रचित स्त्री की छवि का विरोध यहां देखा जा सकता है। इस विरोध में स्त्री की स्वतंत्रता देखी जा सकती है। कवि के यहां एक सामान्य स्त्री भी अपनी जमीन पर खड़ी होकर पूरे समाज और उसमें मौजूद विकृत पितृसत्ता को चुनौती देती नजर आती है– "रामदुलारी नहीं रही/गई राम के पास/बुझे स्वर में कहा मां ने/मैं अपलक निहारता रहा मां को थोड़ी देर/उनका दुख महसूस कर सकता था मैं/रामदुलारी सहयोगी थी मां की/तीस वर्ष से लंबी अवधि तक/मां के कई दुखों की बटाईदार/मां के अलावा सब दाई कहते थे रामदुलारी को/काम में नाम डूब गया था उसका/कभी-कभी मां उनके साहस के किस्से सुनाती थी/सन दो हजार दस में तिरासी वर्ष की आयु में/दुनिया से विदा हुई रामदुलारी ने/कोई तिरसठ वर्ष पहले सन उन्नीस सौ सैंतालीस में/पियक्कड़ पति की पिटाई का प्रतिरोध करते हुए/जमकर धुला था उसे/गांव भर में दबे स्वर में/लोग कहने लगे थे उन्हें मर्द मारन/पर हिम्मत नहीं थी किसी में सामने मुंह खोलने की/रामदुलारी ने वर्षों पहले/जो पाठ पढ़ाया था अपने पति को/उसका सुख भोग रही है/गांव की नई पीढ़ी की स्त्रियां/उनमें गहरी कृतज्ञता है रामदुलारी के लिए/वे उन्हें 'मर्द मारन' नहीं/ 'योद्धा' की तरह याद करती है/जातियों में सुख तलाशते गांव में/हमेशा जाति को लांघा था रामदुलारी ने/कोई भेद नहीं था उसमें बड़े छोटे का/सबके लिए चुल्लू भर पानी था उनके पास/मां कहती है/व्यर्थ की बातें हैं बड़ी

जाति अपार धन/रामदुलारी न किसी बड़ी जाति में पैदा हुई थी/न धन्ना सेठ के घर/पर उनके आचरण ने सिखाया हमेशा/निष्कलुष रहने का सलीका/बाभनों, कायथो, ठाकुरों, बनियों, भूमिहारों में/डींगे चाहे जितनी बड़ी हो अपनी श्रेष्ठता की/पर कोई स्त्री पुरुष नहीं इनमें/जो आसपास भी ठहर सके रामदुलारी के"[64] कवि द्वारा चित्रित स्त्री जीवन से स्पष्ट है कि परवीन बॉबी का संघर्ष जहां फिल्म दुनिया से संबंधित स्त्रियों के लिए महत्वपूर्ण है। तो दुसरी ओर रामदुलारी जैसा पात्र ग्रामीण परिवेश की स्त्रियों के जीवन की चेतना को सशक्त करता है। प्रत्येक समाज से कवि ने ऐसा स्त्री पात्र चुना है जो आने वाले समय में स्त्री जीवन को हिम्मत, आशा, शक्ति और प्रेरणा प्रदान करता रहेगा।

स्त्री भी समाज का अभिन्न अंग है इसलिए स्त्री को आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन में बराबरी की भागीदारी करने का पूरा अधिकार और अवसर मिलना चाहिए। किन्तु पितृसत्ता उसके मूलभूत अधिकारों के आड़े आता है। संसार में सभी मनुष्य के जन्म की प्रक्रिया समान ही है। तो यह फिर स्त्री पुरुष में अंतर क्यों? इस अंतर की निंदा सदैव महान व्यक्तियों और समाज सुधारकों ने की है। कवि ने भी अपनी कविताओं के माध्यम से विरोध दर्ज कराया है। अरुण होता के अनुसार-"नारी विमर्श का पुरुष पाठ नहीं है जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताएं। कवि 'कायांतरण' से बड़ी शिद्दत के साथ अपनी स्त्री को स्पष्ट करता है। व्यष्टि से समष्टि की यात्रा जितेन्द्र की खूबी है। स्त्री दोयम दर्जे की नहीं, सहगामिनी हैं। वह मनुष्य पहले है नारी बाद में। इस दृष्टिकोण ने जितेन्द्र को विशेष महत्व प्रदान किया है।"[65] समाज में स्त्री का जीवन सहज सरल और अधिकार युक्त हो इसके लिए कवि उपजाव भूमि प्रदान करते हैं। कवि हमेशा इसके पक्षधर है कि पुरुष साहचर्य के बोध से स्त्री जीवन को संबल प्रदान किया जा सकता है-

"ये पहाड़ नहीं तुम्हारे हाथ है प्रिये!

उठो

छू लो आसमान

देखो,डरो नहीं

संकोच न करो

कांपो भी नहीं

यह समय तुम्हारा है

सिर्फ तुम्हारा

उठो, लपककर छू लो आकाश

यह धरती भी तुम्हारी है

आकाश भी तुम्हारा।"[66]

जीवन के मानवीय मूल्य हो या फिर सांस्कृतिक विरासत स्त्रियों ने सदा मानवता को अपनी कर्मठता और जिजीविषा आदि से निरंतर गतिशीलता प्रदान की है। स्त्री के द्वारा मानवीय मूल्य को बचाए रखने का प्रयास आज भी विविध रूपों में देखा जा सकता है। लोक जीवन के छोटे-छोटे प्रतिको और वस्तुओं आदि के माध्यम से कवि ने स्त्री जीवन के महत्व को रेखांकित किया है। 'आग' एक प्रतीक है जीवन में व्याप्त ऊष्मा का। स्त्री जीवन में इसका बहुत महत्वपूर्ण योगदान है-

"घास गढ़ती औरतें

सोने से पहले सुबह के लिए

बोरसी की राख में छिपाकर

रख देती है थोड़ी सी आग।"[67]

स्त्री जीवन निश्चित तौर पर पुरुष जीवन से अधिक अपने समय तथा समाज में व्याप्त रूढ़ियों और रिवाजों तथा विसंगतियों से संघर्ष करती है। इस सच को स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। सच बात तो यह है कि स्त्री का जितना शोषण हुआ है आज तक साहित्य या अभिव्यक्ति के अन्य माध्यमों से उसके कुछ अंश ही अभी तक व्यक्त हुए हैं। स्त्रियां आने वाली पीढ़ियों को संस्कार के रूप में जीवन के बहुमूल्य मूल्य प्रदान करती हैं। स्त्री जीवन का संघर्ष जिजीविषा और जीवटता न केवल उसके परंतु उससे संबंधित संपूर्ण मनुष्य जीवन को बदलने हेतु पर्याप्त है। "कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव द्वारा अपनी नानी पर लिखी गई कविता 'धीरे से कहती थी नानी' शीर्षक कविता मनुष्य जीवन में अच्छे आचरण को अभिव्यक्त करती है -

"मिलने से घटती है दूरियां

आने जाने से बढ़ता है प्यार

शरमाने से बचती है भावनाएं

चलने से बनती है राह

जूझना सीखो बेटा ! जूझना

जूझने से खत्म होती है रुकावटें

कभी-कभी मेरा माथा सहलाते हुए

धीरे से कहती थी नानी।"[68]

परिवार में हुई किसी दुर्घटना से उबरने में वर्षों लग जाते हैं। संपूर्ण रुप से उभरना तो संभव नहीं है। परिवार की दुखद घटनाएं स्त्री जीवन को बहुत प्रभावित करती है। जब कभी कोई परिवार में कोई शुभ अवसर या उत्सव आता है तो परिवार के

स्वर्गस्थ लोगों की यादें ताजी हो जाती है। इन स्मृतियों के संदर्भ और मानवीय सरोकार कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव के यहां मिलते हैं। 'मां का सुख' शीर्षक कविता इन बातों के लिए महत्वपूर्ण ठहरती है-"आज हल्दी है/कल विवाह होगा छोटे भाई का/छोटा सा था कब जवान हुआ/पता ही नहीं चला/इस अवधि में हमारा घर खूब फूला फला/पर इसी अवधि में एक दिन चुपचाप चले गए पिता/हम सबको अनाथ कर/मां का साथ बीच राह में छोड़ कर/जो घर हंसता था हर पल/उदास रहा कई बरस/आज वही घर सजा है/उसमें गीत-गवनई है/रौनक है चेहरो पर/गजब का/उत्साह है मां में/परसों उतारेगी वह बहू/पांव जमीन पर नहीं है उसके/सब खुश है उसके उल्लास में/आज रात जब वह सोएगी थक्कर/उसके सपने में जरूर आएंगे पिता उसको बधाई देने/उसका सुख निहारने।"[69] पुरुष के मुकाबले स्त्रियां काफी भावुक और को संवेदनशील होती है।

लोक जीवन में स्त्री सरोकारों को लेकर कवि अत्यंत ही सचेत है। इसके बावजूद स्त्री जीवन के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को लेकर कवि अत्यंत चिंतित है कि कहीं कोई कमी तो नहीं रह गई है। कवि कई बार अपने मन में जाकर इस बात को लेकर समीक्षा करते रहते हैं कि क्या आधुनिक युग में स्त्रियों को पूरे अधिकार प्राप्त हो रहे हैं? कवि स्त्रियों के अधिकारो की तथा उन्हें समझने की बात करते हैं। जोकि आज के स्त्री विरोधी परिवेश में निसंदेह सराहनीय है-"फिर भी एक इच्छा है मन में/कि अबकी जब मैं घर जाऊं/तुम अपनी कहो/अपने जैसों की कहो/और मैं सुनूं उसी तरह/जैसे सुनती हो तुम/वैसे सच सच बताना/क्या तुम्हें लगता है/मैं सब कुछ सुन पाऊंगा/बिल्कुल तुम्हारी तरह"[70]

आज आधुनिक जीवन में अभिव्यक्ति के नए-नए आयामों और माध्यमों को हमारे सामने प्रस्तुत किया है। लोक जीवन में और स्त्री जीवन में बहुत सारे परिवर्तन आज जाए हैं। जिन्हें कवि ने बड़ी ही सूक्ष्मता से अपनी कविताओं में रेखांकित किया है। स्त्री जीवन की स्वतंत्रता और अभिव्यक्ति को सजीवता के साथ हमारे सम्मुख रखा है। आज की आधुनिक स्त्री अपने आसपास के वातावरण को समझ

रही है। वातावरण में यदि किसी प्रकार की समस्याएं हैं तो उसका विरोध आज की शिक्षित तथा चेतना संपन्न स्त्री कर रही है। 'लड़कियां' शीर्षक कविता स्त्री की मानसिकता में आए परिवर्तन और बदलाव को वास्तविकता के धरातल पर प्रस्तुत करती है -"यह हमारे समय की सबसे बड़ी घटना है/कि लड़कियां कविता बनना नहीं चाहती/घर से लेकर कविता तक में/मुक्ति के लिए तड़प रही है लड़कियां/सजावट का सामान बनना नहीं चाहती/अपने जीवन के तमाम फैसले/स्वयं करना चाहती है लड़कियां/वे अक्सर देर से घर लौटने पर/पिता या पति की आंखों में/संदेह नहीं, बस प्रेम देखना चाहती है/जीवन में देखना चाहती है अपनी आंखों से/'बिन घरनी घर भूत का डेरा है।"[71]

कवि जितेन्द्र ने स्त्री जीवन के एक पक्ष बेटी पक्ष पर भी अनेक कविताएं रची है। उन कविताओं में बेटियों के जीवन से जुड़े विविध आयामों को देखा जा सकता है। यह कविताएं केवल कवि के निजी जीवन तक सीमित नहीं रही थी। किन्तु संसार भर की बेटियों की आशाओं और आकांक्षाओं को यहां अभिव्यक्त होते देखा जा सकता है। जितेन्द्र की बेटियों पर कविताएं अन्य कवि,कवित्रीयों के लिए भी प्रेरणादाई है। कवि से पहले भी बेटियों पर कई कविताएं लिखी गई है। किन्तु इतनी मात्रा में नहीं।कवि ने पिछले 23 वर्षों में 23 कविताएं लिखी है बेटियों को आधार बनाकर। इससे संबंधित 'बेटियां' नामक संकलित काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुका है। जिसके संपादक श्री कमलेश्वर वर्मा और उनकी अर्धांगिनी सुचिता वर्मा जी है। कवि के जीवन और पारिवारिक जीवन में खुशी का प्रमाण बेटियों की हंसी पर आधारित है-

"जितनी हंसी होती है बेटियों के अधर पर

उतनी उजास होती है पिता के जीवन में।"[72]

कवि जितेन्द्र की कविताओं में लोकजीवन और स्त्री जीवन संयुक्त रूप से एक दूसरे में घुले-मिले हैं। एक के बगैर दूसरे की कल्पना भी नहीं की जा सकती। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। मां, नानी, दादी, पत्नी, बेटियों के जीवन तथा सरोकारों को कवि जितेन्द्र ने सजीवता और गरिमा के साथ अपनी कविता में चित्रित किया है। परिवार के रिश्तो से इत्तर समग्र लोक जीवन में व्याप्त स्त्री जीवन को भी कवि ने अस्मिता बोध के साथ सम्मुख रखा है। मानव जीवन की शुरुआत से मानव जीवन के सभ्यता के निरंतर विकास में स्त्री जीवन का अतुलनीय योगदान रहा है। भारतीय सामाजिक लोक जीवन में स्त्री के योगदान को भुला देना कवि को किसी भी स्तर पर स्वीकार्य नहीं है।

संदर्भ

1. जितेन्द्र श्रीवास्तव, स्त्रीया कहीं भी बचा लेती है पुरुषों को,पृ.107
2. जितेन्द्र श्रीवास्तव, असुंदर-सुंदर,पृ.53
3. वही, पृ.99
4. वही, पृ.55
5. वही, पृ.101
6. केदारनाथ सिंह, प्रतिनिधि कविताएं,पृ.15
7. जितेन्द्र श्रीवास्तव, असुंदर-सुंदर,पृ.29
8. वही
9. वही, पृ.31-32
10. वही, पृ.108
11. वही, पृ.33
12. वही, पृ.33-34
13. जितेन्द्र श्रीवास्तव, अनभै कथा,पृ.45
14. वही
15. जितेन्द्र श्रीवास्तव, इन दिनों हालचाल,पृ.85
16. जितेन्द्र श्रीवास्तव, असुंदर-सुंदर,पृ.105
17. वही, पृ.15
18. जितेन्द्र श्रीवास्तव, अनभै कथा,पृ.56
19. वही, पृ.88
20. वही, पृ.89
21. जितेन्द्र श्रीवास्तव, असुंदर-सुंदर,पृ.73
22. जितेन्द्र श्रीवास्तव, अनभै कथा,पृ.74
23. वही, पृ.73
24. वही, पृ.94

25. जितेन्द्र श्रीवास्तव, इन दिनों हाल-चाल,पृ.40
26. वही, पृ.40-41
27. वही
28. वही, पृ.47
29. जितेन्द्र श्रीवास्तव, कायांतरण,पृ.10
30. वही, पृ.11
31. वही
32. वही, पृ.44
33. वही, पृ.45
34. वही
35. वही
36. वही
37. वही, पृ.12
38. जितेन्द्र श्रीवास्तव, अनभै कथा,पृ.70
39. वही
40. वही, पृ.82
41. जितेन्द्र श्रीवास्तव, इन दिनों हालचाल,पृ.19
42. वही, पृ.21
43. वही, पृ.23
44. वही, पृ.22
45. मृत्युंजय पाण्डेय, कवि जितेन्द्र श्रीवास्तव,भूमिका से
46. जितेन्द्र श्रीवास्तव, कवि ने कहा,पृ.131-132
47. जितेन्द्र श्रीवास्तव, कायांतरण,पृ.50-51
48. जितेन्द्र श्रीवास्तव, कवि ने कहा, किताब घर प्रकाशन,पृ.104-105
49. जितेन्द्र श्रीवास्तव, असुंदर-सुंदर,पृ.52-53

50. वही, पृ.53
51. असुविधा (समकालीन कविता की देहरी); महेश पुनेठा, 'जीवन के सपनों और उजास भरी आंखों के कवि: जितेन्द्र श्रीवास्तव',पृ.24
52. जितेन्द्र श्रीवास्तव, असुंदर-सुंदर,पृ.99
53. वही, पृ.108
54. अरुण होता (संपादक); सृजन का आयतन,पृ.132
55. जितेन्द्र श्रीवास्तव, इन दिनों हाल-चाल,पृ.59
56. जितेन्द्र श्रीवास्तव, कायांतरण, किताब घर प्रकाशन,पृ.77
57. जितेन्द्र श्रीवास्तव, इन दिनों हालचाल,पृ.79
58. जितेन्द्र श्रीवास्तव, बिल्कुल तुम्हारी तरह,पृ.62
59. जितेन्द्र श्रीवास्तव, इन दिनों हालचाल,पृ.35-36
60. जितेन्द्र श्रीवास्तव, कवि ने कहा,पृ.97-98
61. जितेन्द्र श्रीवास्तव, कायांतरण,पृ.58-60
62. जितेन्द्र श्रीवास्तव, सूरज को अंगूठा,पृ.42-43
63. वही, पृ.13-15
64. वही, पृ.19-20
65. अरुण होता (संपादक); सृजन का आयतन,पृ.139
66. जितेन्द्र श्रीवास्तव; बिल्कुल तुम्हारी तरह,पृ.66-67
67. जितेन्द्र श्रीवास्तव; इन दिनों हालचाल,पृ.41
68. जितेन्द्र श्रीवास्तव, सूरज को अंगूठा,पृ.59
69. वही, पृ.57-58
70. जितेन्द्र श्रीवास्तव, बिल्कुल तुम्हारी तरह,पृ.62-63
71. जितेन्द्र श्रीवास्तव, उजास,पृ.68
72. जितेन्द्र श्रीवास्तव, कवि ने कहा,पृ.76